श्री रूप गोस्वामी विरचित

श्रीहंसदूत

NARAYAN_THE_RUPANUGA

Braj Bibhuti

Shri Shyam Das Ji

श्रीश्रीचैतन्य देव प्रिय–पार्षदवरेण्य श्रीमद्रूपगोस्वामि–विरचित

श्रीहंसदूत

मंगलाचरण

दुकूलं विभ्राणो दलितहरितालद्युतिहरं
जवापुष्पश्रेणीरुचि–रुचिरपादाम्बुजतलः।
तमालश्यामांगो दरहसितलीलाञ्चितमुखः
परानन्दाभोगः स्फुरतु हृदि मे कोऽपि पुरुषः।।१।।

अनुवाद–श्रीपाद रूपगोस्वामी ग्रन्थारम्भ में श्रीकृष्णस्फूर्ति–प्रार्थनारूप मंगलाचरण करते हैं–परिपूर्णतम आनन्दघन विग्रह वे कोई अनिर्वचनीय पुरुष (पुराण पुरुष परब्रह्म श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण) मेरे हृदय में स्फुरित हों, जिन्होंने हरिताल (धातु) की पीतवर्ण–कान्ति को पराभूत करने वाले पीताम्बर को धारण कर रखा है, जिनके चरण–कमलों के तलुए जवा–पुष्पों की लालिमा एवं मृदुतामय छबि के सदृश अति मनोरम कान्तियुक्त हैं, तथा केलि–विलास भरी मन्द–मुस्कराहट से जिनका मुख सुशोभित है।।१।।

यदा यातो गोपीहृदयमदनो नन्दसदना–
न्मुकुन्दो गादिन्यास्तनयमनुविंदन् मधुपुरीम्।
तदामाङ्क्षीच्चिन्तासरिति घनघूर्णापरिचयै–
रगाधायां बाधामयपयसि राधा विरहिणी।।२।।

अनुवाद–जब व्रजगोपियों के हृदय–मदन (हृदय को आनन्दोन्मत्त कर देने वाले) श्रीमुकुन्द–श्रीकृष्ण श्रीनन्द महाराज के भवन से श्रीअक्रूर के अनुरोध करने पर मथुरा चले गये, तब कृष्ण–विरहिणी श्रीराधा अगम्य आवर्त्तमय अगाध पीड़ारूप जलपूर्ण चिन्तानदी में डूब गयीं अर्थात् 'प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के विरह में मैं कैसे जीवित रह पाऊंगी'–इस भावना में निरन्तर निमग्न हो गयीं।।२।।

श्रीश्यामदास कृत गोपालानुगा–टीका–श्रीअक्रूर को यहां गान्दिनी–पुत्र कहा गया है। श्रीअक्रूर का काशी नरेश की सुता गान्दिनी के गर्भ से जन्म हुआ था। यह अपनी माता के उदर में बारह वर्ष तक रुके रहे। इनके पिता ने पूछा–'हे पुत्र ! तू जन्म क्यों नहीं ले रहा है, माता को क्यों दुःख दे रहा है, गर्भस्थ पुत्र ने कहा– 'पिताजी ! यदि आप एक–एक गाय प्रतिदिन ब्राह्मणों को दान करें तो एक वर्ष के अन्त में मैं जन्म ले लूंगा।' तब पिता ने उस बात को स्वीकार कर लिया और एक वर्ष तक एक–एक गाय ब्राह्मणों को दान करते रहे। तदनन्तर श्रीअक्रूर माता के गर्भ से बाहर आये। इसलिये इनका नाम 'गान्धिनी–पुत्र' ख्यात हुआ। (विष्णु पुराण) मार्कण्डेय पुराण में

कहा गया है, जो पुत्र पिता–पितामह के नाम से ख्यात होता है, वह धन्य माना जाता है और जो माता के नाम पर प्रसिद्धि लाभ करता है, वह अधम होता है। इनकी ख्याति माता गान्धिनी के नाम पर होने पर भी गोदान–पुण्य के कारण इन्हें पुण्यशाली माना गया है। ये श्रीकृष्णलीला में परम सहायक बने हैं।

कदाचित्खेदाग्निं विघटयितुमन्तर्गतमसौ
सहालीभिर्लेभे तरलितमना यामुनतटीम्।
चिरादस्याश्चित्तं परिचितकुटीरावकलना–
दवस्था तस्तार स्फुटमथ सुषुप्तेः प्रियसखी।।३।।

अनुवाद–एक दिन श्रीराधा अपनी हृदयगत विरह–अग्नि को कुछ दूर करने के लिये अपनी सखियों के साथ चंचल–चित्त होकर यमुना तट पर आयीं। (ताप को दूर करने के लिये शीतल वस्तु का आश्रय लिया ही जाता है) वहां चिरकाल से परिशीलित या परिचित निकुंज–भवन को देखते ही उनकी वह दशा प्रकाशित हो उठी जो गुरुजन की लज्जा–संकोच के कारण तिरोहित रही आती थी। उसके फलस्वरूप एक प्रिय सखी की भांति सुषुप्ति अर्थात् मूर्च्छा ने उन्हें आवृत कर लिया–श्रीराधाजी मूर्च्छित हो गयीं। (सुषुप्ति बुद्धि की एक ऐसी अवस्था विशेष है कि जिसमें बाहर की सुध–बुध नहीं रहती–मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है)।।३।।

तदा निष्पन्दांगी कलितनलिनीपल्लवकुलैः
परीणाहात्प्रेम्णामकुशलशताशंकिहृदयैः।
दृगम्भोगम्भीरीकृत–मिहिरपुत्री–लहरिभिः
विलीना धूलीनामुपरि परिवव्रे परिजनैः।।४।।

अनुवाद–श्रीराधा को मूर्च्छित स्पन्दनशून्य दशा में देखकर सखीजन उन्हें चारों ओर से घेरकर कमलदलों से पंखा करने लगीं। अतिशय प्रेम के कारण उनके अकुशलशत–अर्थात् उनकी मरणावस्था की वे शंका करने लगीं। सखीवृन्द के नेत्रों से अजस्र अश्रुधाराएं पृथ्वी पर बहती हुईं मिहिर पुत्री अर्थात् सूर्य पुत्री यमुना में जा मिलीं, जिससे उसकी तरंगें गम्भीर होकर उछलने लगीं।।४।।

ततस्तां न्यस्तांगीमुरसि ललितायाः कमलिनी–
पलाशैः कालिन्दीसलिलशिशिरैर्वीजितनुम्।
परावृत्तश्वासांकुरचलितकण्ठीं कलयतां
सखीसन्दोहानां प्रमदभरशाली ध्वनिरभूत।।५।।

अनुवाद–तब श्रीललिता ने श्रीराधा को अपनी गोद में ले लिया और कमलदलों पर शीतल यमुनाजल छिड़ककर उनकी हवा करने लगी। उससे कुछ क्षणों में श्रीराधा के कण्ठ में हल्का सा प्राणवायु का स्फुरण होने लगा। उसे देखकर सखीवृन्द हर्षित होकर मंगल–ध्वनि करने लगीं।।५।।

निधायांके पंकेरुहदलविटंकस्य ललिता
ततो राधां नीराहरणसरणी न्यस्तचरणां।
मिलन्तं कालिन्दीपुलिनभुवि खेलाञ्चितगतिं
ददर्शाग्रे कञ्चिन्मधुरविरुतं श्वेतगरुतम्।।६।।

अनुवाद– तदनन्तर श्रीललिता ने श्रीराधा को कमलपत्रों की कोमल–शय्या पर सुला दिया और वह यमुना जल लाने के लिये आगे बढ़ीं। निकट ही उसने कालिन्दी–पुलिन भूमि पर एक शुभ्रवर्ण के राजहंस को कुछ मधुर–शब्द करते एवं सुन्दर गति से आगे आगमन करते हुए देखा। मधुर शब्द सुनकर उस राजहंस में दूत–योग्यता का श्रीललिता ने अनुमान किया।।६।।

तदालोकस्तोकोच्छ्वसितहृदया सादरमसौ
प्रणामं शंसन्ती लघु–लघु समासाद्य सविधम्।
धृतोत्कण्ठा सद्यो हरिसदसि सन्देशहरणे
वरं दूतं मेने तमतिललितं हन्त ललिता।।७।।

अनुवाद–श्रीललिता उसे देखकर हृदय में आश्वस्त हो उठीं, (कि यदि श्रीराधा की इस अवस्था का सन्देश श्रीकृष्ण को इसके द्वारा भेजा जाये तो वे अवश्य शीघ्र लौट आयेंगे)। श्रीललिता उस हंस की प्रशंसा करते हुए धीरे–धीरे उसके निकट गयी और उसे सादर प्रणाम किया। उसी क्षण श्रीकृष्ण की सभा में सन्देश भेजने के लिये हर्षपूर्वक उत्कण्ठित होकर श्रीललिता ने उस अति सुन्दर राजहंस को दूत बनाकर भेजने का मन में निश्चय किया।।७।।

अमर्षात् प्रेमेर्ष्यां सपदि दधती कंसमथने
प्रवृत्ता हंसाय स्वमभिलषितं शंसितुमसौ।
न तस्या दोषोऽयं यदिह विहगं प्रार्थितवती
न कस्मिन् विश्रम्भं दिशति हरिभक्तिप्रणयिता।।८।।

अनुवाद–श्रीकृष्ण के प्रति प्रणय–द्वेष के कारण कुपित हुई श्रीललिता तत्क्षण उस राजहंस को अपना मनोभीष्ट कहने को तैयार हो गयी। एक पक्षी को वह अपनी प्रार्थना जतलाने लगी– यह कोई उसका दोष नहीं, क्योंकि कृष्ण–भक्ति–परायणता किसके प्रति विश्वास नहीं उत्पन्न करा देती।।८।।

गोपालानुगा–टीका–श्रीकृष्ण के व्रजरमणियों को छोड़कर मथुरा चले जाने पर उनमें प्रणयद्वेष जाग उठा था। वे सोचती थीं कि हम गोपियों को ठुकराकर श्रीकृष्ण मथुरा–नारियों से प्रेम करने लगे हैं, वे चतुर नायक हैं। आज उसके असह्य विरह–दुःख में जब श्रीललिता ने अपनी प्रिय सखी श्रीराधाजी की मरणासन्न अवस्था देखी तो उसमें प्रणय–ईर्ष्या के साथ कोप भी जाग उठा और उसी क्षण वह हंस–पक्षी को भी अपनी मनःव्यथा सुनाने को तैयार हो गयीं। पक्षी सार–असार के विवेक से रहित होता है–इस बात का विचार भी श्रीललिता में न रहा। उसका एकमात्र कारण है कृष्णभक्ति परायणता। अर्थात् जिन्होंने कृष्णभक्ति का वरण कर लिया है, कृष्णानुसन्धान

के समय उनमें सर्वत्र विश्वास जाग उठता है। पशु–पक्षी तो क्या लता–वृक्षादि स्थावर वस्तुओं से भी अपने मनोभीष्ट–कृष्णप्राप्ति की प्रार्थना वे करने लगते हैं, वृक्ष–लताओं से प्रियतम का पता पूछने लगती हैं कृष्ण विरहिणी व्रज गोपिकाएं। अतः श्रीकृष्ण विरहविधुरा श्रीललिता यदि एक पक्षी से अपना मनोभीष्ट कहने को तैयार हो गयी तो उसका कोई दोष नहीं वरं कृष्ण प्रेमाधिक्य का एक दिव्य गुण है यह।

पवित्रेषु प्रायो विरचयसि तोयेषु वसतिं
प्रमोदं नालीकं वहसि विशदात्मा स्वयमपि।
अतोऽहं दुःखार्त्ता शरणमबला त्वां गतवती
न याञ्चा सत्पक्षे व्रजति हि कदाचिद्विफलताम्।।६।।

अनुवाद–श्रीललिता ने स्तुति पूर्वक कहा–'हंसराज ! तुम प्रायः पवित्र स्थानों में विचरण करते हो। आहार भी तुम आनन्द पूर्वक पवित्र कमलनालका करते हो। अतः तुम अपने–आप पवित्र या उदार आत्मा हो। इसलिये मैं दुख से पीड़ित एक असहाय नारी तुम्हारी शरण ग्रहण करती हूँ। यह भी मैं जानती हूँ कि सत्पुरुषों से की गयी कोई भी याचना निष्फल नहीं होती।।६।।

गोपालानुगा–टीका–श्रीललिताजी ने हंस से अपना मनोभीष्ट पूर्ण कराना था, अतः कुछ प्रार्थना करने से पहले उसकी प्रशंसा युक्त ही है। जो व्यक्ति पवित्र स्थान में निवास करता है, वह अपवित्र संग या दुसंग दोष से मुक्त रहता है। जो पवित्र शुद्ध आहार करता है उसमें आहार दोष नहीं रहता। अतः उसका अन्तःकरण कुटिलतादि दुर्गुणों से रहित निर्मल होता है–इन गुणों के कारण उसकी मुख छवि सदा उज्ज्वल रहती है एवं दूसरे के दुःख–निवारण में उसका हृदय उदार रहता है। राजहंस में पवित्र स्थान–वास, पवित्र–आहार तथा शुभ्रवर्ण होने से उसमें एक सत्पुरुष के लक्षण श्रीललिता ने देखे एवं यह अनुभव किया कि वह दुःख पीड़ित मुझ अबला के पास एक सत्पुरुष की भांति बिना बुलाये अपने–आप आकर उपस्थित हुआ है। अतः श्रीललिता ने उसका आश्रय ग्रहण कर उससे प्रार्थना की। सत्पुरुष या पवित्रात्मा व्यक्ति से कोई भी याचना की जाय वह कभी निष्फल नहीं होती, उस पर भी एक अबला यदि याचना करती है तो सत्पुरुष उसको अवश्य पूर्ण करते हैं।

चिरं विस्मृत्यास्मान् विरहदहनज्वालविकलाः
कलावान् सानन्दं वसति मथुरायां मधुरिपुः।
तदेतं सन्देशं स्वमनसि समाधाय निखिलं
भवान् क्षिप्रं तस्य श्रवणपदवीं संगमयतु।।१०।।

अनुवाद–हे राजहंस ! हम गोपीगण कृष्ण–विरहाग्नि ताप से अति व्याकुल हो रही हैं, किन्तु वे कलावान (चौंसठ कला सम्पन्न अथवा वैदग्धी–निपुणनायक) श्रीकृष्ण हमें भूलकर चिरकाल से मथुरा में आनन्दपूर्वक वास कर रहे हैं। उनके लिये जो एक सन्देश हम भेजना चाहती हैं, उस

सबको आप अपने मन में अच्छी प्रकार समझ लीजिये। फिर उसे आप शीघ्र श्रीकृष्ण के निकट जाकर सुनायें—यही मेरी प्रार्थना है।।१०।।

निरस्तप्रत्यूहं भवतु भवतो वर्त्मनि शिवं
समुत्तिष्ठ क्षिप्रं मनसि मुदमाधाय सदयम्।
अधस्ताद्धावन्तो लघु–लघु समुत्तानितनयने–
र्भवन्तु वीक्षन्तां कुतुकतरलाः गोपशिशवः।।११।।

अनुवाद—(आशीर्वाद पूर्वक उत्साह वृद्धि करते हुए श्रीललिता ने फिर कहा—)—हे राजहंस! आपका यात्रा—मार्ग विघ्नों से रहित एवं मंगलमय हो। आप दया करके हृदय में हर्ष धारणकर (परोपकार जनित हर्ष श्रीकृष्ण—दर्शन—लाभ जनित हर्ष, को जानकर) अब शीघ्र जाने के लिये तैयार हों। जब आप तेजी से उड़ान भरेंगे तो चंचल गोप बालक नीचे से आपको अपने नेत्र आकाश की ओर ऊँचे उठाकर देखेंगे।।११।।

स वैदग्धीसिन्धुः कठिनमतिना दानपतिना
यया निन्ये तूर्णं पशुपयुवतीजीवित—पतिः।
तया गन्तव्या ते निखिलजगदेकप्रथितया
पदव्या भव्यानां तिलक! किल दाशार्हनगरी।।१२।।

अनुवाद—(यात्रा—पथ का सुझाव देते हुए श्रीललिता ने कहा)—'हे महापुरुष श्रेष्ठ! वैदग्धी—सिन्धु (पटुता या रसिकतासिन्धु) एवं गोप किशोरियों के जीवन रक्षक उन श्रीकृष्ण को क्रूर—बुद्धि वह अक्रूर जिस मार्ग से शीघ्र ले गया है, सकल जगविख्यात् उसी मार्ग से ही आपको दाशार्हवंशियों (यदुवंशियों) की नगरी मथुरा में जाना चाहिए।।१२।।

गलद्बाष्पासारप्लुतधवलगण्डा मृगदृशो
विदूयन्ते यत्र प्रबलमदनावेशविवशाः।
त्वया विज्ञातव्या हरिचरणसंगप्रणयिनो
ध्रुवं सा चक्रांगी रतिसख शतांगस्य पदवी।।१३।।

अनुवाद—हे हंसी के रतिसखा! जिस मार्ग पर अश्रुधाराओं से आप्लावित शुभ्रकपोलों वाली मृगनयनी गोपिकाएँ प्रबल प्रेमावेश से विवश होकर विलाप करते हुए पड़ी हुई हैं, तथा कृष्णचरणों के संसर्ग के कारण प्रेमवती रथ के चक्र चिह्न जिस मार्ग पर विद्यमान हैं, आप निश्चय ही उस मार्ग से मथुरा जाओ।।१३।।

पिबन् जम्बुश्यामं मिहिरदुहितुर्वारि मधुरं
मृणालीर्भुञ्जानो हिमकरकलाकोमलरुचः।
क्षणं हृष्टस्तिष्ठन्निबिड़विटपे शाखिनि सखे!
सुखेन प्रस्थानं रचयतु भवान् वृष्णिनगरे।।१४।।

अनुवाद—(मार्ग में जलपान—आहार एवं विश्राम के विषय को लेकर श्रीललिता ने कहा)—हे सखे! आप मार्ग में यमुना के जामुनी—श्यामवर्ण मधुर जल का पान करते हुए चन्द्र किरणसम कांतियुक्त कोमल कमलनालों का

भोजन करते हुए जाना। (अधिक समय के लिये नहीं) क्षणभर घनी शाखाओं वाले वृक्ष पर हर्षपूर्वक विश्राम कर फिर सुख से आप मथुरा चले जाना।।१४।।

बलादाक्रन्दन्ती रथ–पथिकमक्रूर–मिलितं
विदूरादाभीरीततिरनुययौ येन रमणम्।
तमादौ पन्थानं रचय चरितार्था भवतु ते
विराजन्ती सर्वोपरि परमहंस–स्थितिरियम्।।१५।।

अनुवाद–हे राजहंस ! अक्रूरके साथ रथ पर बैठे श्रीकृष्ण का बहुत दूर तक जिस मार्ग पर गोपीवृन्द ने जोर–जोर से रोते हुए अनुगमन किया था, आप पहले उसी मार्ग से जाना। इससे जो आपकी सर्वोपरि हंसोचित अवस्थिति शोभित हो रही है, वह चरितार्थ हो जायेगी।।१५।।

गोपालानुगा टीका–श्रीकृष्ण के निकट जाने का पहला अर्थात् सर्वश्रेष्ठ मार्ग है जिस पर व्रजगोपियों ने अनुगमन किया है। परमहंस–मुनियों की स्थिति भी तभी सर्वोपरि एवं चरितार्थ मानी जाती है जब वे श्रीकृष्ण–प्राप्ति के लिये विरहाकुल होकर 'हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव' पुकारते हुए उच्चस्वर में रोदन करते हैं प्रेम–पूर्वक। श्रीव्रजगोपियों के इस मार्ग का अनुगमन किये बिना हंस–सूर्य की भांति सर्वोपरि अवस्थिति की या परमहंसों की अवस्था की भी कोई चरितार्थता या सार्थकता नहीं है– इसी सिद्धान्त का इंगित दिया गया है उपर्युक्त श्लोक में।

अकस्मादस्माकं हरिरपहरन्नंशुकचयं
यमारूढो गूढ़प्रणयलहरी कन्दलयितुम्।
तव श्रान्तस्यान्तःस्थगितरविबिम्बः किशलयैः,
कदम्बः कादम्ब ! त्वरितमवलम्बः स भविता।।

अनुवाद–(मार्ग में श्रीकृष्ण के रमणीय विहार–स्थलों पर रुकने में कहीं उसे देर न हो, उसके लिये सावधान करते हुए श्रीललिता ने कहा)–हे कादम्बेश्वर ! (कदम्ब निवासी–हंस !) अकस्मात् (जिसको हमने कभी सोचा भी न था) हमारी अति गुप्तप्रेम–लहरियों को प्रकाशित करने के लिये श्रीकृष्ण हमारे वस्त्रों को चुराकर जिस कदम्ब पर चढ़ गये थे, नव पल्लवों से घनीभूत उस वृक्ष पर रुककर आप विलम्ब न करें।।१६।।

किरन्ती लावण्यं दिशि–दिशि शिखण्डस्तवकिनी
दधाना साधीयः कनक विमलद्योति वसनम्।
तमालश्यामांगी सरलमुरली चुम्बितमुखी
जगौ चित्रं यत्र प्रकटपरमानन्दलहरी।।१७।।
तया भूयः क्रीड़ारभसविकसद्बल्लवबधू
वपुर्वल्लीभ्रश्यन्मृगमदकणश्यामलिकया।
विधातव्यो हल्लीसकदलितमल्लीलतिकया
समंतादुल्लासस्तव मनसि रासस्थलिकया।।१८।। युग्मकम्

अनुवाद—(कदम्ब के निकट अग्रवर्ती मनोरम रासस्थलि का परिचय देते हुए श्रीललिता ने कहा) हे हंस ! फिर आप चारों दिशाओं में लावण्यराशि विकीर्ण करती हुई उस रासस्थलि को देखेंगे, जहां मोरपुच्छ विभूषित तथा उज्ज्वल कनककांतियुक्त पीताम्बरधारी तमाल श्यामलांग श्रीकृष्ण ने उदार मुरली का चुम्बन करते हुए अनुपम गान किया था, जिससे परमाश्चर्यमय परमानन्द–लहरी साक्षात् मूर्तिमान होकर प्रकटित हो उठी थी। हल्लीशक–नृत्य (अनेक रमणियों के मण्डल में एक नायक के साथ नृत्य) में जहां मल्लिकालता पद–दलित हो गयी एवं अतिशय क्रीड़ा–विलासिनी गोपरमणियों की अंग–लताओं से कस्तूरी के कणसमूह बिखर जाने से जो रासस्थलि श्याम–वर्ण हो उठी थी, उसे देखकर आप मन में पूर्ण–आनन्दोल्लास प्राप्त करेंगे। (किन्तु आप वहाँ रुकना नहीं) १७–१८।।

तदन्ते वासन्तीविरचितमनंगोत्सवकला
चतुःशालं शौरेः स्फुरति न दृशो तत्र विकिरेः।
तदालोकोदभेद–प्रमद भरविस्मारितगति–
क्रिये जाते तावत् त्वयि वत हता गोपवनिता।।१६।।

अनुवाद—(रासस्थलि के पास अतिरमणीय निर्जन स्थल का ध्यान दिलाते हुए श्रीललिताजी ने कहा)—उस रासस्थलि के समीप श्रीकृष्ण के अनंगोत्सव–सम्पादन के लिये माधवी–लताओं से निर्मित चतुष्कोण मण्डप विद्यमान है। हे राजहंस ! उसकी तरफ तो आप नेत्र उठाकर भी नहीं देखना, क्योंकि उसे देखते ही अतिशय आनन्द–उद्रेक के कारण आप मथुरा जाना ही भूल जाओगे। आपके ऐसा करने पर, हाय ! गोपरमणियां तब तक मर जायँगी—ऐसा मैं निश्चित जानती हूं।।१६।।

मम स्यादर्थानां क्षतिरिह विलम्बादयदपि ते
विलोकेथाः सर्वं तदपि हरिकेलिस्थलमिदम्।
तवेयं न व्यर्था भवतु शुचिता कः स हि सखे
गुणो यश्चाणूरद्विषि मतिनिवेशाय न भवेत् ?।।२०।।

अनुवाद—(मार्ग में विलम्ब न करना—अपनी इस बात में दोष का विचार कर, चित्त में हंस के प्रति उपकार को ध्यान कर श्रीललिताजी ने कहा)—हे हंस ! मार्ग में विलम्ब करने से यद्यपि मेरे स्वार्थ को हानि होगी, तथापि आप श्रीकृष्ण के इस केलिस्थल को—चतुष्कोण मण्डप को अच्छी तरह देखना। इससे आपकी पवित्रता विफल न होगी (वरं अन्दर–बाहर की पवित्रता आप लाभ करेंगे)। हे सखे ! वह गुण भला किस काम का, जो श्रीकृष्ण में मन–बुद्धि को निविष्ट या आसक्त न करा पाये।।२०।।

गोपालानुगा–टीका—महत् पुरुष अपने स्वार्थ की हानि करके भी परोपकार साधित करते हैं। अपनी स्वार्थ–सिद्धि को यहां दोष कहकर विवेचना की गयी है। विशेषतः जीव का परमहित इसी में है कि उसकी मन–बुद्धि श्रीकृष्ण–प्रीति–सेवा में निविष्ट हो जाय। श्रीवृन्दावनीयकृष्णलीला–स्थलियों

के दर्शन करने का यह एक स्वाभाविक गुण है कि दर्शनकर्त्ता की मन–बुद्धि श्रीकृष्ण में आसक्त हो उठती है। यदि श्रीकृष्ण में मनबुद्धि का अभिनिवेश–साधक–मानव को प्राप्त न हो पाया, तो अन्यान्य कोटि–कोटि गुण भी निष्प्रयोजनीय हैं, किसी काम के नहीं, क्योंकि उनमें जीव के स्वरूपानुबन्धी धर्म या आचरण का अभाव है।।

सकृद्वंशीनादश्रवणमिलिताभीरवनिता–
रहःक्रीडासाक्षी प्रतिपदलतासद्मसुभगः।
स धेनूनां बन्धुर्मधुमथन खट्टायितशिलः
करिष्यत्यानन्दं सपदि तव गोवर्धनगिरिः।।२१।।

अनुवाद–(मार्गस्थित गोवर्धनगिरि का विवरण देते हुए श्रीललिताजी ने कहा–) हे हंस। मार्ग में गोवर्धनगिरि है, जिसका क्षणमात्र दर्शन आपको आनन्दित कर देगा; क्योंकि श्रीकृष्ण की एकबार ही वंशीध्वनि को सुनते ही सब गोपरमणियां उनके निकट उसकी तलहटी में आकर मिलित हो जाती थीं। स्थान–स्थान पर सुन्दर लता–निकुञ्जों में फिर जो उनकी परस्पर रहः क्रीड़ा होती थी, वह गोवर्धन उसका साक्षात्–दृष्टा है। लीला–विलास के समय तो उसकी शिलाएं उस मदनमोहन की सुख शैयाएं बन जाती हैं। (तृण–घास, जल–शीतल, छायादिक द्वारा परम सुखप्रद होने के कारण) वह गोवर्धनगिरि गौओं का तो परम बन्धु है–(दर्शन करते ही वह आपको आनन्दित कर देगा)।।२१।।

तमेवाद्रिं चक्रांकितकरपरिष्वंगरसिकं
महीचक्रे शंकेमहि शिखरिणां शेखरतया।
अरातिं ज्ञातीनां ननु हरिहयं यः परिभवन्
यथार्थं स्वं नाम व्यधित भुवि गोवर्धन इति।।२२।।

अनुवाद– हे हंस। रसिकशेखर श्रीकृष्ण के चक्रादि चिह्नित करकमलों से आलिंगित होने के कारण उस गिरिगोवर्धन को हम पृथ्वी–मण्डल के समस्त पर्वतों से श्रेष्ठ मानती हैं। इन्द्र जब (अपने यज्ञ भंग को देखकर) हम ब्रजवासियों का शत्रु बनकर समस्त ब्रज को मूसलाधार वर्षा से ध्वंस करना चाहता था। उस समय उस पर्वतराज ने गौओं सहित हम गोप–गोपियों की रक्षा कर जगत् में अपने 'गोवर्धन'–नाम को सार्थक किया–(अतः उसके दर्शनों से आप अवश्य आनन्दित होंगे)।।२२।।

तमालस्यालोकाद्गिरिपरिसरे सन्ति चपलाः
पुलिन्द्यो गोविन्दस्मरणरभसोत्तप्त वपुषः।
शनैस्तासां तापं क्षणमपनयन् यास्यति भवा–
नवश्यं कालिन्दीसलिलशिशिरैः पक्षपवनैः।।२३।।

अनुवाद–श्रीललिताजी ने आगे कहा–हे राजहंस। उस गिरिराज के नीचे आस–पास की भूमि में तमाल–वृक्ष को देखकर कृष्ण–विरह में व्याकुल, उनका स्मरण करती हुई अतिशय सन्तप्त अवस्था में बैठी कई–एक भीलनियों

को आप देखेंगे। (मेरा निवेदन है कि) आप अपने जमुनाजल के समान सुशीतल पंखों से मन्द–मन्द वायुसंचार करते हुए दो–चार क्षण वहां रुककर उनके ताप को अवश्य दूर करते जाइयेगा।।२३।।

गोपालानुगा–टीका–गोचारण के समय श्रीकृष्ण जब वन में विहार करते थे, तो वन में विचरण करने वाली भीलनियाँ उनके रूप–लावण्य का दर्शनकर मुग्ध हो जातीं, अपने को कृष्णालिंगन के अयोग्य जानकर हृदय में असह्य प्रेम–पीड़ा का अनुभव करती थीं। जब कभी श्रीकृष्ण के चरण कमलों में प्रेयसी–वक्षोजलग्न केसर को वन के तृण घास पर लगा देखतीं, तो उसे ले–लेकर वे अपने वक्षस्थलों पर लेपकर अपनी प्रेम–पीड़ा शान्त करती थीं।

श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर वे भीलनियाँ भी उनके दर्शनों के लिये वन में मारी–मारी फिरती रहतीं। कभी–कभी गिरिराज की तलहटी में किसी तमाल वृक्ष को देखकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण को आया जानकर उसकी ओर व्याकुल होकर भाग पड़तीं। किन्तु निराश होकर उस तमाल की छाया में उनका स्मरण करती हुई बैठ जातीं। किन्तु उनके शरीर कृष्णविरह–अग्नि में अति सन्तप्त हो उठते थे।

श्रीललिताजी ने उन्हीं भीलनियों के विरह–ताप को शीतल करने का निवेदन किया है राजहंस को उपर्युक्त श्लोक में।।२३।।

तदन्ते श्रीकान्तस्मरसमरधाटी–पुलकिता
कदम्बानां वाटी रसिकपरिपाटीं स्फुटयति।
त्वमासीनस्तस्यां न यदि परितो नन्दसि ततो
बभूव व्यर्था ते घनरसनिवेशव्यसनिता।।२४।।

अनुवाद–श्रीललिताजी ने फिर कहा–हे हंसराज ! उस गोवर्धन–गिरि के प्रान्त भाग में पुष्परूप पुलकावली से मण्डित कदम्बवृक्षों की एक वाटिका है, जो राधाकान्त श्रीकृष्ण के स्मरयुद्ध की स्मारक–वेदिका के रूप में विद्यमान है। रसिकचूड़ामणि श्रीकृष्ण की रसपरिपाटी को वह अब भी प्रकाशित कर रही है। वहां बैठकर यदि आपने सर्वतोभाव से आनन्द अनुभव नहीं किया तो आपकी निबिड़–रसाभिनिवेश व्यसनता अर्थात् उज्ज्वल रसासक्ति निष्फल हो जायेगी अर्थात् मैं जानूंगी आपकी शृंगार में आविष्टता नहीं है। अथवा उस रस का परिज्ञान ही आपको नहीं है केवल जल में ही अवगाहन करने में आपका आवेश है।।२४।।

गोपालानुगा–टीका–श्रीगिरिराज–गुहाएं, श्रीराधाकुण्ड, श्रीश्यामकुण्ड, श्रीवृन्दावन, श्रीयमुनापुलिन, कदम्ब–वाटिकाओं से परिवृत समस्त रमणीय निकुञ्ज–भवन श्रीश्रीप्रिया–प्रियतम की उज्ज्वल रसमयी लीलासुधा से नित्य अभिषिक्त हैं एवं लीलानुकूल समस्त दिव्य उपकरणों से सुसज्जित भी ! अतः इन समस्त लीलास्थलों के दर्शन–स्पर्श से, उनमें उपवेशन करने मात्र से व्रजमधुररस के उपासकों के हृदय में उन लीलाओं की स्फूर्तिपूर्वक पूर्ण

सुखानुभूति होती है। जो व्यक्ति उज्ज्वल रस के अधिकारी नहीं, अथवा व्रज के मधुररस की विविध—वैचित्री के स्वरूपज्ञान से वंचित हैं, उन्हें ये सब स्थान न तो लीला स्फूर्ति का सौभाग्य प्रदान करते हैं, न चिन्मय आनन्द ही। वे इन स्थलों की बाहरी रूप—छटा को चर्म चक्षुओं से देखकर मनोरंजन मात्र ही प्राप्त करते हैं।

अतः श्रीललिताजी ने हंस को उपलक्ष्य कर मधुर रसोपासकों को सूचना दी है कि इन स्थानों पर जाकर भावाविष्ट उपवेशन करना चाहिए एवं श्रीयुगलकिशोर की तत्स्थानीय लीलाओं का चिन्तन—स्मरण कर पूर्ण आनन्द प्राप्त कर कृतार्थ होना चाहिए।

शरन्मेघश्रेणी—प्रतिभटमरिष्टासुरशिर—
श्चिरं शुष्कं वृन्दावनपरिसरे द्रक्ष्यति भवान्।
यदारोढुं दूरान्मिलति किल कैलासशिखरि—
भ्रमाक्रान्तस्वान्तो गिरिशसुहृदः किंकरगणः।।२५।।

अनुवाद—श्रीललिताजी बोलीं—हे हंसराज ! (मार्ग में एक और अद्भुत दृश्य आप देखेंगे,—वह यह कि)—श्रीवृन्दावन के प्रान्त देश में शरत्कालीन शुभ्र मेघ—माला के समान बहुत दिनों से सूखा हुआ (दुर्गन्धशव्य) अरिष्ट—असुर का मस्तक पड़ा हुआ आप देखेंगे। वह इतना विशाल और ऊँचा है कि दूर से उसे देखकर श्रीशिव के मित्र कुबेर के सेवक (निरन्तर केलिरसिक) यक्ष के मन में आज भी कैलाश—पर्वत का भ्रम होता है और वे उस पर चढ़ने आते हैं।।२५।।

गोपालानुगा—टीका—श्रीललिताजी हंस को मार्ग को निर्देश करते हुए, मार्ग के लीला—स्थलों के साथ—साथ श्रीकृष्ण—लीलास्फूर्ति भी प्राप्त कर रही थीं।

श्रीकृष्ण ने कंस के भेजे हुए अरिष्ट—असुर को, जो एक अति विशालकाय बैल के रूप में आया था, वृन्दावन के बाहरी प्रान्त में ही मार गिराया था, ताकि गोष्ठ में प्रवेशकर ध्वंसकारी उपद्रवों से गौओं तथा व्रजवासियों को भयभीत न करे। उसकी गर्जना ही को सुनकर स्त्रियों एवं गौओं के गर्भ गिरने लगे थे—"पतन्त्यकालतो गर्भाः"।। भा० १०.३६.४।। उसका ककुद् इतना ऊंचा और लम्बा चौड़ा था कि मेघ उसे पर्वत समझकर उस पर ठहर जाते थे—"निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशंकया"।। भा० १०.३६.४।। क्रोध में जब वह पूंछ को उठाकर घुमा रहा था, आकाश के बादल तितर—बितर हुए जा रहे थे—"उद्यत्पुच्छभ्रमन् मेघः"।। भा० १०.३६.६।। उसका ककुद् ही पर्वत का भ्रम उत्पन्न कर रहा था तो उसका मस्तक, जो ककुद् से ऊंचा एवं बड़ा रहता है, वह यदि यक्षों को कैलाश का भ्रम उत्पन्न करे, तो आश्चर्य क्या है?

अतः श्रीललिताजी ने जो उसके मस्तक में भ्रान्तिमान अलंकार रूप में कैलाश का उल्लेख किया वह युक्त ही है। किन्तु हंस को कहीं ऐसा भ्रम न

हो, उसे इस अद्‌भुत दृश्य की पहले ही सूचना दे रही है। ताकि उसे मार्ग में बिलम्ब न हो।।२५।।

रुवन् याहि स्वैरं चरमदशया चुम्बितरुचो
नितम्बिन्यो वृन्दावनभुवि सखे ! सन्ति बहवः।
परावर्तिष्यन्ते तुलितमुरजिन्नूपुररवा–
त्तवध्वानात्तासां बहिरपि गताः क्षिप्रमसवः।।२६।।

अनुवाद–(कृष्णविरह–व्याकुला व्रजगोपियों के प्रति उपकार या आश्वासन देने की प्रार्थना करते हुए श्रीललिताजी ने आगे कहा)–हे सखे ! आप स्वच्छन्दता पूर्वक मधुर स्वर करते हुए जाइये, इस वृन्दावन–प्रदेश में (केवल हम ही नहीं,) और भी अनेक व्रजरमणियां हैं, कृष्णविरह में जिनकी मुख–कान्ति को मरणदशा चुम्बन कर रही है, अर्थात् वे मृत्यु को प्राप्त होने वाली हैं। उनके प्राण शरीर से बाहर निकलने को हैं। आपके मन्द मधुरस्वर को लौटकर आये श्रीकृष्ण के चरणनूपुरों की ध्वनि समझकर सम्भवतः उनके प्राण शीघ्र पुनः शरीर में प्रवेश कर जावेंगे। (इससे आपका बड़ा उपकार होगा)।।२६।।

त्वमासीनः शाखान्तरमिलित चण्डत्विषि सुखं
दधीथा भाण्डीरे क्षणमपि घनश्यामल रुचौ।
ततो हंसा विभ्रन्निखिलनभसश्चिक्रमिषया
स वर्द्धिष्णुं विष्णुं कलितदरचक्रं तुलयिता।।२७।।

अनुवाद–श्रीललिताजी बोलीं–हे हंस ! (यद्यपि निरन्तर कृष्णविरह से व्याकुला हम गोपीजन श्रीकृष्ण के पास अतिशीघ्र आपको पहुँचाना चाहती हैं, तथापि) आप मार्ग में भाण्डीर नामक वटवृक्ष पर क्षणभर विश्राम कर सुख अनुभव करना। इसकी शाखाओं के बीच में से निकलती हुई सूर्य की किरणें उसकी अत्यन्त घनी श्यामला–कान्ति की शोभा वृद्धि कर रही हैं। वह बट वृक्ष आपकी शाखा–भुजाओं को चारों ओर प्रसारित करते हुए निखिल आकाश मण्डल को आवृत करने की इच्छा से शंख–चक्रधारी श्रीविष्णु–वामन भगवान् की सदृशता प्राप्त कर रहा है।।२७।।

त्वमष्टाभिर्नेत्रैर्विगलदमलप्रेमसलिलै
र्मुहुः सिक्तस्तम्बां चतुरचतुरास्यस्तुतिभुवम्।
जिहीथाः विख्यातां स्फुटमिह भवद्बान्धवरथं
प्रविष्टं मंस्यन्ते विधिमटविदेव्यस्त्वयि गते।।२८।।

अनुवाद–हे सुन्दर हंस ! आप उस अति प्रसिद्ध स्थल पर जाईयेगा, जहाँ ब्रह्माजी ने श्रीकृष्णकी स्तुति की और जिसे आपने डुबडुबाते आठों नेत्रों के प्रेमाश्रुओं से अभिषिक्त किया है। वहां आपके प्रवेश करने पर वनदेवियां ऐसा मानेंगी कि ब्रह्माजी अपने राजहंस वाहन पर पुनः इस वन में आये हैं।।२८।।

उदञ्चन्नेत्राम्भः प्रसरलहरीपिच्छिलपथ–
स्खलत्पादन्यासप्रणिहितविलम्बाकुलधियः।

हरौ यस्मिन्मग्ने त्वरितयमुनाकुलगमन
स्पृहाक्षिप्ता गोप्यो ययुरनुपदं कामपि दशाम्।।२९।।
मुहुर्लास्यक्रीड़ाप्रमदमिलदाहोपुरुषिका–
विकाशेन भ्रष्टैः फणिमणिकुलैर्धूमलरुचौ।
पुरस्तस्मिन्नीपद्रुमकुसुमकिञ्जल्कसुरभौ
त्वया पुण्ये पेयं मधुरमुदकं कालियह्रदे।।३०।। युग्मकं

अनुवाद–हे राजहंस ! उसके बाद आप उस कालियहृद पर जाईयेगा, जिसमें श्रीकृष्ण के मग्न होने पर (प्रवेश करने पर) गोपीवृन्द यमुनातट की ओर शीघ्रता से भाग उठी थीं। उस समय उनके नेत्रों से अजस्र अश्रुओं की धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं, जिससे पथ पंकिल हो रहा था। अतः उनके पांव बार–बार फिसलते जाने से विलम्ब हो रहा था। उससे वे अधीर एवं विफल–बुद्धि हो उठी थीं। पद–पद पर उनकी एक अनिर्वचनीय शोचनीय दशा हो रही थी। किन्तु श्रीकृष्ण ने पुनः–पुनः उस कालिय–सर्प के मस्तक पर नृत्यकलाकौशल का आनन्दपूर्वक प्रदर्शन किया और अपने प्रबल–पौरुष द्वारा उस सर्प के मस्तक की मणियों को अपने पदाघातों से गिरा फैंका। उससे यमुना का श्याम वर्ण जल रक्तवर्ण की मणियों से मिलकर धूम्र कांति का हो उठा था। कालिय–दमन के पश्चात् उस ह्रद का जल तटवर्ती कदम्ब वृक्ष के पुष्प–पराग से सुगंधित तथा (श्रीकृष्ण–विहार के कारण) अति पवित्र और मधुर हो चुका है, अतः हे हंसराज ! उसका पान आप करते जाइये।।२९–३०।।

गोपालानुगा–टीका–श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के सोलहवें अध्याय में कालिय–दमन लीलाका तथा सत्रहवें अध्याय में कालियनाग के वहां यमुना तटवर्ती एक कुण्ड में आकर रहने का कारण भी विस्तार से वर्णन किया गया है। गरुड़ को सौभरि ऋषि का शाप था कि वह यदि उस स्थान पर आयेगा तो उसकी मृत्यु हो जायेगी। सौभरि ऋषि एक बार यमुना के तटवर्ती स्थल पर तपस्या कर रहे थे। गरुड़ जी प्रकृत–स्वभाववश आकर यमुना से मछलियां पकड़कर खा रहे थे। यह देखकर सौभरि ऋषि ने उन्हें शाप दिया था। यह बात कालिय सर्प जानता था। गरुड़जी से वैर होने के बाद उनके भय के मारे वह इस हद में आ छुपा था। अत्यन्त विषैला नाग था, उसके विष से उस कुण्ड का जल अति विषैला हो चुका था। एकबार गौओं के विषैला जल पीने से जब प्राण जाते रहे तो लीलाधारी भगवान् श्रीगोपाल ने उन्हें अपनी अमृतमयी दृष्टि से जीवित कर दिया और कालिय सर्प पर नृत्यकला–कौशल का आनन्द लेते हुए कालिय का दमन कर उसे वहाँ से निकाल पुनः रमणकद्वीप में भेज दिया अपने चरणकमल की छाप उसके मस्तक पर लगा दी, ताकि गरुड़जी फिर उसे ग्रस न सकें।

गरुड़जी एवं सौभरि ऋषि के विषय में प्रसंग इस प्रकार है कि सौभरि ऋषि ने परम भागवत गरुड़जी के प्रति शाप देकर अपराध किया था। इसी

वैष्णव–अपराध के कारण वे तपस्या से भ्रष्ट हो गये। मत्स्यों का रति विहार देखकर उनके मन में विवाह करने की उत्कट वासना जाग उठी थी। जिसके फलस्वरूप राजा मान्धाता की पचास कन्याओं को ब्याह लाये। योगबल ने अपने पचास शरीर–कायव्यूह रचकर अनेक काल तक उनसे विहार करते रहे। जब आत्मनिरीक्षण किया तो वैष्णव–अपराध की सुध आयी। तब उन्होंने श्रीगरुड़जी से अपराध की क्षमा याचना की तब पुनः वे विषय–भोग कामना से मुक्त होकर भजन में लग गये।

श्रीललिताजी ने हंस को व्रजगोपियों के निरहैतुक प्रेम का तथा श्रीकृष्ण के प्रति उनकी विरह–व्यथा को इंगित किया कि श्रीकृष्ण के क्षणिक अदर्शन को भी व्रजगोपियां सहन न कर सकी थीं। अब जब श्रीकृष्ण उन व्रजगोपियों को त्यागकर मथुरा जा बसे हैं, तो वे कैसे प्राण धारण करें ?–यह द्योतित करने के लिये श्रीललिताजी ने हंस को उस स्थल विषयक–चर्चा सुनायी, आपबीती भी सुनायी। उन्हें कृष्णविहार कृत अति पवित्र–मधुर जलपान करने की भी शुभ प्रेरणा दी।

तृणावर्त्तारातेर्विरहदवसन्तापिततनोः
सदाभीरीवृन्दप्रणयबहुमानोन्नतिविदः।
प्रणेतव्यो नव्यस्तवकभरसम्वर्द्धितशुच–
स्त्वया वृन्दादेव्याः परमविनयाद्वन्दनविधिः।।३१।।

अनुवाद–श्रीललिता ने आगे कहा–हे राजहंस ! वहां निकट ही वृन्दादेवी को आप देखेंगे। अतः अति विनीत होकर प्रेमसहित आप उसकी वन्दना अवश्य कीजियेगा। श्रीकृष्णचन्द्र की विरहाग्नि में उसका शरीर भी सन्तप्त हो रहा है। वह सदा से व्रजगोपियों के प्रेम की अति उन्नत अवस्था को जानती है। (श्रीकृष्ण सेवा से वंचित होने का) शोक उसके शरीर पर नवीन मंजरी–गुच्छों के रूप में प्रस्फुटित हो रहा है।।३१।।

इति क्रान्त्वा केकाकृतविरुतिमेकादशवनीं
घनीभूतं चूतैर्ब्रज मधुवनं द्वादशमिदम्।
पुरी यस्मिन्नास्ते यदुकुलभुवां निर्म्मलयशो–
भराणां धाराभिर्धवलितधरित्रीपरिसरा।।३२।।

अनुवाद–हे राजहंस ! इस प्रकार फिर आप मयूरों की ध्वनि से मुखरित एकादशवनों को उल्लांघकर बारहवें सघनवन मधुवन में पहुँचेंगे, जो चारों ओर से आम्र–वृक्षावलि से परिवृत हैं। इन बारह वनों से घिरी हुई यदुवंशियों की राजधानी मथुरा नगरी शोभित है, जिसकी उज्ज्वल–कीर्ति–धारासे समस्त भूमण्डल निर्मल हो रहा है।।३२।।

निकेतैराकीर्णा गिरिशगिरिडम्भप्रतिभटै–
रवष्टम्भस्तम्भावलिविलसितैः पुष्पितवना।
निविष्टा कालिन्दीतटभुवि तवाधास्यति सखे !
समन्तादानन्दं मधुरजलवृन्दा मधुपुरी।।३३।।

अनुवाद–हे सखे ! यमुनातटवर्ती वह मधुपुरी आपको सब प्रकार से आनन्द प्रदान करेगी। वह कैलाश के शिखरों सदृश ऊँचे–ऊँचे स्तम्भों से शोभित अनेक मनोहर भवनों से समाकीर्ण है। अनेक पुष्पित वनों से वह मण्डित है, जिनमें मधुर–निर्मल जल के सरोवर शोभित हैं।।३३।।

वृषः शम्भोर्यस्यां दशति नवमेकत्र यवसं
विरिञ्चेरन्यस्मिन् गिलति कलहंसो विसलताम्।
क्वचित् क्रौञ्चारातेः कवलयति केकी विषधरं
विलीढ़े शल्लक्या वलरिपुकरी पल्लवमितः।।३४।।

अनुवाद–आप देखेंगे कि उस मधुपुरी में कहीं पर तो श्रीशंकर का नन्दी–वृषभ–हरे–हरे तृणों को चर रहा है और कहीं पर श्रीब्रह्मा का वाहन हंस शुभ्र मृणालों को भक्षण कर रहा है। किसी स्थान पर स्वामी कार्तिकेय का वाहन मोर सर्प का आहार कर रहा है और कहीं पर इन्द्र का ऐरावत हस्ती अपनी प्यारी शल्लकी लता के पल्लवों को खा रहा है–(इस प्रकार अनेक देवताओं के वाहनों का दर्शन भी मधुपुरी में आप प्राप्त करेंगे)।।३४।।

अवोधिष्ठाः कायान्न हि विचलितां प्रच्छदपटीं
विमुक्तामज्ञासीः पथि पथि न मुक्तावलिमपि?
अयि श्रीगोविन्दस्मरणमदिरामत्तहृदये !
सतीति ख्यातिं ते हसति कुलटानां कुलमिदम्।।३५।।

अनुवाद–श्रीललिता ने आगे कहा–(हे हंसराज ! क्या आप जानते हो, कि श्रीकृष्णचन्द्र ने जब प्रथम बार मधुपुरी में प्रवेश किया, तो उनकी अनुपम रूपमाधुरी का दर्शनकर वहां की नागरिवृन्दकी प्रेमानन्द में कैसी असाधारण अवस्था हो उठी थी, एवं वे परस्पर क्या कहने लगी थीं ?–मैं आपको (पांच श्लोकों में) उसे भी सुनाये दे रही हूँ। एक रमणी दूसरी से बोली–अयि श्रीगोविन्द स्मरण–सुधा पानोन्मत्त हृदय वाली ! तुम्हें तो इतना भी ज्ञान नहीं कि शरीर से तुम्हारे वस्त्र स्खलित हो गये हैं और तुम्हारा कण्ठहार टूट जाने से उसके मोती मार्ग में बिखरे जा रहे हैं। सखि ! तुम्हारी तो पतिव्रताओं में गिनती है, किन्तु अब तुम्हारे इस आचरण को देखकर असती (कुलटा) नारियां तुम्हारा परिहास करेंगी।।३५।।

असव्यं बिभ्राणा पदमधृतलाक्षारसमसौ
प्रयाताऽहं मुग्धे विरम मम वेशैः किमधुना ?
अमन्दादाशंके सखि ! पुरपुरन्ध्री–कलकला–
दलिन्दाग्रे वृन्दावन–कुसुमधन्वा विजयते।।३६।।

अनुवाद–एक रमणी ने वेश–भूषा रचना में व्यस्त अपनी सखी से कहा–अयि मूर्ख ! बस कर अब इस वेश–रचना का ऐसा क्या प्रयोजन ? मैं तो (बायें पाँव में लगाकर) दाहिने पाँव में बिना महावर लगाये चल रही हूँ। सुन तो मथुरापुर वासिनियों की उच्च आनंद कोलाहल–ध्वनि ! लगता है, वृन्दावन–अप्राकृत मदन हमारी गली के द्वार पर आ पहुँचे हैं। (यदि एक क्षण

भी देर करेगी तो वे आगे निकल जायेंगे और उनके दर्शन—बिना हम पछताती रह जायेंगी)।।३६।।

अयं लीलापांगस्नपितपुरवीथीपरिसरो
नवाशोकोत्तंसश्चलति पुरतः कंसविजयी।
किमस्मानेतस्मान्मणि—भवनपृष्ठाद्विनुदती
त्वमेका स्तब्धाक्षि ! स्थगयसि गवाक्षावलिमपि ?।।३७।।

अनुवाद—(एक पुररमणी अपने भवन के सब झरोखों को, जिनसे श्रीकृष्ण दर्शन किये जा सकते थे, बन्द करके एक झरोखे में अकेली बैठी श्रीकृष्ण दर्शन—सुख का आस्वादन कर रही थी तो उसे एक दूसरी रमणी ने कहा—सखि ! श्रीकृष्णचन्द्र अशोक—कुसुमों के कर्णभूषण धारण किये अपनी लीला—कटाक्ष—भरी अवलोकन से मथुरा के राजमार्ग को अभिषिक्त करते हुए आगे बढ़े जा रहे हैं। तुम स्वयं तो अकेली एकटक होकर उनके दर्शन कर रही हो किन्तु (हम उनके दर्शन न कर सकें, इसलिये) तुमने और सब गवाक्षों को बन्द कर रखा है और हमें मणि भवन की पीछे की ओर चले जाने की प्रेरणा दे रही हो। (यह तुम्हारा कितना अनुचित व्यवहार है ?)।।३७।।

मुहुः शून्यां दृष्टिं वहसि रहसि ध्यायसि सदा
शृणोषि प्रत्यक्षं न परिजन—विज्ञापनशतम्।
अतः शंके पंकेरुहमुखि ! ययौ श्यामलरुचिः
स यूनामुत्तंसस्तव नयनवीथीपथिकताम्।।३८।।

अनुवाद—(श्रीकृष्ण दर्शन करने के बाद दूर निर्जन स्थान पर ध्यान मग्ना किसी रमणी के पास जाकर दूसरी रमणी बोली)—हे कमल—नयनि ! तुम बार—बार लक्ष्यहीन दृष्टिपात करती हो एवं निर्जन स्थान पर हर समय बैठकर किसी के ध्यान में मग्न रहती हो। फिर अपने परिजनों की सौ—सौ बातों में एक को भी नहीं सुनती हो। अतः अनुमान होता है कि वह नवतरुण—मुकुटमणि श्यामल—कान्ति श्रीकृष्ण तुम्हारे नयनपथ का पथिक हो चुका है। (नयन—पथ से वह तुम्हारे हृदय में घर कर चुका है)।।३८।।

विलज्जं मा रोदीरिह सखि ! पुनर्यास्यति हरि—
स्तवापांग—क्रीड़ानिबिड़—परिचर्य्याग्रहिलताम्।
इति स्वैरं यस्यां पथि—पथि मुरारेरभिनव—
प्रवेशे नारीणां रति—रभसजल्पा ववृधिरे।।३९।।
(पंचभिः कुलकम्)

अनुवाद—(श्रीकृष्ण—दर्शन से वंचित रह गयी व्याकुल होकर रोती हुई एक रमणी के प्रति उसकी सखी ने कहा)— "हे सखि ! निर्लज्ज होकर तू इस प्रकार से रो मत। श्रीकृष्ण चन्द्र तुम्हारी नेत्रकटाक्ष—भरी—क्रीड़ा की घनिष्ठ—सेवा फिर कभी ग्रहण करेंगे—तुम्हें फिर वे दर्शन देंगे।" (ललिताजी ने कहा)—हे हंसराज ! श्रीकृष्ण चन्द्र के प्रथम बार मथुरा के मार्गों पर स्वच्छन्दता पूर्वक प्रवेश करने पर पुररमणियों में परस्पर इस प्रकार प्रेमपूर्ण कथोपकथन हुआ था।।३९।। इति कुलकम्।।

सखे साक्षाद्दामोदरवदन–चन्द्रावकलन–
स्फुरत्–प्रेमानन्द–प्रकरलहरीचुम्बितधियः।
मुहुस्तत्राभीरी–समुदयशिरोन्यस्तविपद–
स्तवाक्ष्णोरानन्दं विदधति पुरा पौरवनिताः।।४०।।

अनुवाद–श्रीललिताजी ने फिर कहा–हे सखे ! हम व्रजगोपियों के सिर पर महाविपद का भार अर्पण कर, इस समय मथुरावासिनी रमणियों की मन–बुद्धि साक्षात् श्रीदामोदर के मुखकमल के दर्शनों से उत्थित प्रेमानन्द–सागर की तरंगों से चुम्बित–आप्लावित हो रही है। अतः आपको भी उनके बार–बार दर्शन कर आनन्द की प्राप्ति होगी।।४०।।

अथ क्रामं–क्रामं क्रमघटनया संकटतरान्–
निवासान् वृष्णीनामनुसर पुरीमध्यविशिखान्।
मुरारातेर्यत्र स्थगित–गगनाभिर्विजयते
पताकाभिः संतर्पितभुवनमन्तः पुरवरम्।।४१।।

हे हंसराज ! फिर आप मथुरा–नगरी के मध्यभाग में अन्वेषण करने पर वृष्णि–वंशियों के घनीभूतरूप में निर्मित दुर्गम भवनों को देखेंगे। उन भवनों के शिखर मणिरत्नमय कलशों से सुशोभित हैं। आप उन सबका अतिक्रमण करते हुए श्रीकृष्ण के अतिश्रेष्ठ अन्तःपुर निजमहल में जाइयेगा। उस पर आकाश को भी ढक देने वाली पताकाएं फहरा रही हैं एवं असुर वध हो जाने के कारण निष्कण्टकरूप में शोभित हो रहा है।।४१।।

यदुत्संगे तुंगस्फटिकरचिताः सन्ति परितो
मरालाः माणिक्यप्रकरघटितत्रोटिचरणाः।
सुहृद् बुद्ध्या हंसाः कलित–मधुरस्याम्बुजभुवः
समर्यादा येषां सपदि परिचर्य्यां विदधति।।४२।।

अनुवाद–श्रीललिताजी ने कहा–हे राजहंस ! (श्रीकृष्ण के अन्तःपुर के सम्बन्ध में और भी (तीन श्लोकों में) मैं तुम्हें परिचय देती हूँ) श्रीकृष्ण–अन्तःपुर के चारों ओर विशाल भवन हैं, उनकी शिखरों पर स्फटिक–मणियों के मनोहर राजहंस बने हुए शोभित हैं। उनकी चोंच एवं चरण पद्मराग–मणियों से जड़ित हैं। अनेक हंस उन्हें सजातीय बन्धु मानकर उनके निकट आते हैं और शिष्टाचारानुरूप सम्मान पूर्वक उनकी पूजा विधान करते हैं।।४२।।

चिरान्मृग्यन्तीनां पशुपरमणीनामपि कुलै–
रलब्धं कालिन्दीपुलिनविपिने लीनमभितः।
मदा लोकोल्लासिस्मितपरिचिताऽस्यं प्रियसखि !
स्फुरन्तुं वीक्षिष्ये पुनरपि किमग्रे मुरभिदम्।।४३।।
विषादं मा कार्षीर्द्रुतमवितथव्याहृतिरसौ
समागन्ता राधे ! धृतनवशिखंडस्तव सखा।
इति ब्रूते यस्यां शुकमिथुनमिन्द्रानुजकृते
यदाभीरीवृन्दैरुपह्वत–मभूदुद्धव–करे।।४४।। (युग्मकम्)

अनुवाद–श्रीललिताजी ने कहा–हे हंसराज ! श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर जब श्रीउद्धव यहाँ आये थे, तब हम विरहव्याकुला व्रजगोपियों ने शुक–पक्षियों का एक शिक्षित जोड़ा उनके हाथ श्रीकृष्णचन्द्र को भेजा था। शुक श्रीराधा के वचन कहता था। तथा शुकी उनके प्रत्युत्तर में एक सखी के वचन उच्चारण करती थी। उन दोनों के वचनों को भी आप वहां कृष्ण–अन्तःपुर में जाकर सुनेंगे। वे वचन इस प्रकार हैं।–(श्रीराधा–वचन)–"हे प्रिय सखि ! जो श्रीकृष्ण कौतुकवश यमुनापुलिन की कुंजों में जा छिपे थे और सब ब्रजगोपियों के द्वारा बहुत ढूँढ़ने पर भी न मिल पाते थे, किन्तु मुझे देखकर जिनके सुन्दर मुखकमल पर उल्लासभरी मन्द–मधुर मुस्कराहट प्रकाशित हो उठी थी, उनको क्या फिर मैं कभी अपने नेत्रों के सामने साक्षात् देख पाऊँगी ?"

(सखी–प्रत्युत्तर)–"हे राधे ! तुम इस प्रकार वृथा चिन्ता मत करो। आपके वे प्राणसखा श्रीकृष्ण नवीन मोरपुच्छ मुकुट धारण किये हुए शीघ्र ही आपके नेत्र–गोचर होंगे; क्योंकि वे सत्यवादी हैं–(मथुरा जाते समय उन्होंने प्रतिज्ञा–पूर्वक यह कहा था कि मैं शीघ्र ही व्रज में लौट आऊँगा) हे हंस ! आप शुक–शुकी का यह कथोपकथन श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में सुनेंगे।।४३–४४।।

घनश्यामा भ्राम्यत्युपरि हरिहर्म्यस्य शिखिभिः
कृतस्तोत्रा मुग्धैरगुरुजनिता धूमलतिका।
तदालोकाद्धीर स्फुरति तव चेन्मानसरुचि–
र्जितं तर्हि स्वैरं जनसहनिवासप्रियतया।।४५।।

अनुवाद–हे हंस ! श्रीकृष्ण के निज–भवन के ऊपर अगरु–बतियों का श्यामल धुंआ सजलमेघों के समान सदा छाया रहता है। जिसे मेघ–माला समझकर मुग्ध मयूरगण केका–रव करते हुए मानों स्तुति पाठ करने लगते हैं उसे देखकर (वर्षाकाल आ जाने की आशंका कर सकता है) आपके मन में भी मानसरोवर पर चले जाने की इच्छा जाग उठे, (वर्षाकाल में राजहंस वज्रपात के भय से मानसरोवर चले जाते हैं) किन्तु आप तो धीर हैं, अर्थात् सार–असार के विवेक में चतुर हैं। अतः आप जन–संकुल चहल–पहल वाली मथुरा राजधानी में निवास को अधिक प्रिय या उत्कृष्ट मानकर वहां ही स्वच्छन्दता से विचरण कीजियेगा।।४५।।

ततो मध्ये कक्षं प्रति–नवगवाक्षस्तवकितं,
चलन्मुक्तालम्बस्फुरितममलस्तम्भनिवहम्।
भवान् द्रष्टा हेमोल्लिखितदशमस्कन्धचरितै–
र्लसद्भित्तिप्रान्तं मुरविजयिनः केलिनिलयम्।।४६।।

अनुवाद–हे सखे ! वहां फिर मध्य के कक्ष में विचित्र गवाक्षों से सुशोभित श्रीकृष्णचन्द्र के केलि–भवन को आप देखेंगे, जो डोलायमान जगमगाती मुक्तामालाओं से एवं निर्मल स्फटिक–मणियों से खचित अनेक मनोहर स्तम्भों से शोभायमान है। उस केलि–भवन की दीवालों पर श्रीभागवत

के दशम–स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्णलीलाओं को स्वर्णमय चित्रों में आप चित्रित देखेंगे।।४६।।

अलिन्दे यस्यास्ते मरकतमयी यष्टिरमला
शयालुर्या रात्रौ मदकलकलापी कलयति।
निरातंक स्तस्याः शिखरमधिरुह्य श्रमनुदं
प्रतीक्षेथा भ्रातर्वरमवसरं यादवपतेः।।४७।।

अनुवाद– हे भ्राता ! वहां केलि–भवन के बाहर बरामदे में मरकतमणि निर्मित अति स्वच्छ एक विश्राम–स्तम्भ है, जिसका रात्रि में निद्रालु मयूरगण आकर आश्रय ग्रहण करते हैं। आप भी निशंक होकर उसी स्तम्भ पर विश्राम करते हुए यदुपति श्रीकृष्णचन्द्र के मिलने के निभृत–अवसर की अर्थात् जब उनके साथ और दूसरा कोई व्यक्ति न हो, उस समय की प्रतीक्षा कीजिये।।४७।।

निविष्टः पल्यंके मृदुलतरतूलीधवलिते
त्रिलोकी लक्ष्मीणां ककुदि दरसाचीकृततनुः।
अमन्दं पूर्णेन्दुप्रतिममुपधानं प्रमुदितो
निधायाग्रे तस्मिन्नुपहितकफोणिद्वयभरः।।४८।।
उदञ्चत्–कालिन्दीसलिलसुभगम्भावुकरुचिः
कपोलान्ते प्रेङ्खन्मणिमकरमुद्रामधुरिमा।
वसानः कौषेयं जितकनकलक्ष्मीपरिमलं
मुकुन्दस्ते साक्षात्प्रमदसुभगा सेक्ष्यति दृशौ।।४६।। (युग्मकं)

अनुवाद–हे राजहंस ! केलि–भवन में अति कोमल रुई के शुभ्र गद्दे बिछे हुए एक सुन्दर पर्यंकपर त्रिभुवन–सम्पद् के आश्रय श्रीमुकुन्द को आप विराजमान देखेंगे। वे अपने आगे पूर्ण चन्द्रद्युति के समान उज्ज्वल मसनदको रखे हुए एवं उस पर अपनी दोनों कोहिनियों को रखकर कुछ झुककर आनन्दपूर्वक बैठे होंगे। यमुनाजल सदृश मनोहर नीलकान्ति है उनके श्रीअंगों की। गण्डस्थलों पर मणि जटित मकराकृति कुण्डलों की मधुरिमा को तथा कटि में स्वर्ण द्युति विनिन्दी पीताम्बर को वे धारण कर रहे होंगे। उस समय साक्षात् वे आपके नेत्रों को आनन्दामृत से तृप्त करेंगे।।४८–४६।। युग्मक।।

विकद्रुः पौराणीरखिलकुलवृद्धो यदुपते–
रदूरादासीनो मधुरभणितीर्गास्यति तदा।
पुरस्तादाभीरी–गणभयदनामा स कठिनो
मणिस्तम्भालम्बी कुरुकुलकथां संकलयिता।।५०।।

अनुवाद–श्रीललिताजी ने आगे कहा–हे राजहंस ! उस समय यदुपति श्रीकृष्ण के निकट थोड़ी दूरी पर बैठा विक्रुद नाम का यादव पुराणों की कथा मधुर स्वर में गाकर उन्हें सुना रहा होगा और श्रीकृष्ण के सामने मणिस्तम्भ का सहारा लेकर सब यदुवंशियों में वयोवृद्ध कठिन हृदय (अक्रूर) बैठा होगा जिसका नाम लेने में भी व्रजगोपियों को भय लगता है। वह उस समय कौरव–वंशियों–श्रीयुधिष्ठिरादिकी वार्ताओं का वर्णन कर रहा होगा। (हे हंस! आप हमारा सन्देश उस समय श्रीकृष्णचन्द्र को मत कहना)।।५०।।

(उपर्युक्त कोष्ठकगत वाक्य का सम्बन्ध परवर्ती श्लोकों से है। सं० ६४ में यह कहा गया है कि उन लोगों के सामने श्रीकृष्णचन्द्र से हमारी कोई बात नहीं कहना।

शिनीनामुत्तंसः स किल कृतवर्म्माप्युभयतः
प्रणेष्येते बालव्यजनयुगलान्दोलन–विधिम्।
स जानुभ्यामष्टापद–भुवमवष्टभ्य भविता
गुरोः शिष्यो नूनं पदकमलसंवाहनरतः।।५१।।

अनुवाद–उस समय निश्चय ही यदुकुल में श्रेष्ठ सात्यकि तथा कृतवर्मा, ये दोनों श्रीकृष्ण के दोनों 'पार्श्वों' में बैठे उन्हें चामर झुला रहे होंगे। तथा बृहस्पति का साक्षात् शिष्य उद्धव वहां नीचे स्वर्णमय भूमि पर अपने जानुओं के बल बैठा उनके चरणकमलों का संवाहन कर रहा होगा।।५१।।

विहंगेन्द्रो युग्मीकृतकरसरोजो भुवि पुरः
कृतासंगो भावी प्रजविनि निदेशेऽर्पितमनाः।
छदद्वन्द्वे यस्य ध्वनित–मथुरावासिवटवो
व्युदस्यन्तो सामस्वरकलितमन्योऽन्यकलहम्।।५२।।

अनुवाद–हे हंसराज ! आप देखोगे कि सामने भूमि पर गरुड़जी दीनतापूर्वक अपने दोनों हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण के भावी आदेश को अतिशीघ्र पाने और पालन करने के लिये एकाग्रचित्त से खड़े होंगे। उनके दोनों पंखों की ध्वनि से सामवेद के स्वरों के सम्बन्ध में मथुरावासी ब्रह्मचारी बालकों का परस्पर जो कलह या मतभेद है, वह दूर हो जाता है।।५२।।

गोपालानुगा–टीका–श्रीमद्भागवत (१२।११।१६) में कहा गया है–– "त्रिवृद्वेदःसुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पुरुषम्।।" अर्थात् तीनों वेदों का ही नाम 'गरुड़' है, जो श्रीभगवान् का वहन करते हैं अतः श्रीगरुड़जी के पंखों को संचालन करने पर वेदों के मंत्र ध्वनित होते हैं। सामवेद का कौन सा मंत्र, उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित–इन तीन प्रकार के स्वरों में किसमें उच्चारण किया जाना चाहिये, इस विषय में मथुरावासी बालकों में कभी–कभी मतभेद हो जाता है। वेद–मन्त्रोच्चारण में स्वर का विशेष ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक होता है। अतः जब एक बालक कहता है, इस मंत्र का उदात्त स्वर में उच्चारण होना चाहिये, तो दूसरा अनुदात्त स्वर पर अड़ जाता है, तो तीसरा स्वरित–स्वर की बात करता है। इससे उनमें परस्पर कलह होने लगता है। किन्तु जब श्रीगरुड़जी के पंखों से सामवेद मन्त्रों की ध्वनि को वे सुनते हैं, तो उनको वास्तविक स्वर का ज्ञान हो जाता है, तब उनका परस्पर कलह और सन्देह दूर हो जाता है– यही बात श्रीललिताजी ने कही है राजहंस से–

न निर्वक्तुं दामोदरपदकनिष्ठांगुलिनख–
द्युतीनां लावण्यं भवति चतुरास्योऽपि चतुरः।

तथापि स्त्रीप्रज्ञासुलभतरलत्वादहमसौ
प्रवृत्ता तन्मूर्त्तिस्तवरतिमहासाहसरसे।।५३।।

अनुवाद– हे हंसराज ! उन श्रीकृष्णचन्द्र के चरण की कनिष्ठा–अंगुली की नखकांति राशि के लावण्य को चतुरानन श्रीब्रह्मा भी वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं, तथापि स्त्रियों की स्वाभाविक बुद्धि चञ्चलता के कारण मैं उनके श्रीअंग की महिमा वर्णन का आसक्तिवश साहस कर रही हूँ।।५३।।

विराजन्ते यस्य व्रजशिशुकुलस्तेयविकल–
स्वयम्भू–चूड़ाग्रैर्लुलितशिखराः पादनखराः।
क्षणं यानालोक्य प्रकटपरमानन्दविवशः
स देवर्षिर्मुक्तानपि तनुभृतः शोचति भृशं।।५४।।

अनुवाद–कृष्ण–सखा ब्रजशिशुओं को चुराने के अपराध से व्याकुल–चित्त ब्रह्मा द्वारा बार–बार प्रणाम करते हुए, उसके मुकुटाग्र भागों के स्पर्श (घिसने) से उन श्रीकृष्ण के चरण–नख अति सुशोभित हो उठे थे। और उनके चरणों का एक क्षणमात्र दर्शन लाभ करने से ब्रह्मर्षि श्रीनारद साक्षात् परमानन्द में विवश होकर मुक्तजीवों के लिये इस प्रकार शोक करने लगे थे– हाय ! मुक्तजीवों का कैसा दुर्भाग्य ! कि साक्षात् परमानन्द लीला विलास स्वरूप कृष्ण चरणों का वे दर्शन प्राप्त न कर सके, न भविष्य में कोई सम्भावना ही है।

गोपालानुगा–टीका–शास्त्रों में पांच प्रकार की मुक्तियों का वर्णन मिलता है–१–सालोक्य मुक्ति–इसमें उपासक अपने उपास्य भगवत्–स्वरूप के धाम में निवास करने का अधिकार प्राप्त करता है। २–सारूप्य मुक्ति–इसमें उपासक अपने उपास्य–स्वरूप के धाम में जाकर उसके समान रूप की प्राप्ति करता है। ३–सार्ष्टि– मुक्ति–इसमें उपास्य के परिकरों के समान ऐश्वर्य को उपासक प्राप्त करता है। ४–सामीप्य मुक्ति–इसमें उपास्य के सदा समीप रहने का सौभाग्य उपासक को प्राप्त होता है। ये चारों मुक्तियां वैधी–भक्ति के आचरण से उपासकों को प्राप्त होती हैं। ये भी दो प्रकार की हैं–सुखैश्वर्योत्तरा तथा प्रेमसेवोत्तरा। जो उपासक भगवत् धाम में जाकर उस धाम के ऐश्वर्य तथा रूपादि में चित्तका प्रधान आवेश रखते हैं, उनकी मुक्ति 'सुखैश्वर्योत्तरा' कहलाती है और जिनके चित्त में उपास्यकी सेवा–कामना प्रधानता लाभ करती है, उनकी मुक्ति 'प्रेमसेवोत्तरा' कहलाती है।

पांचवीं मुक्ति है 'सायुज्य'। इस मुक्ति में उपासक अपने उपास्य के स्वरूप के साथ एकता प्राप्त कर लेता है अर्थात् तादात्मता मात्र प्राप्त करता है, जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि की तादात्मता प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार सायुज्यमुक्ति प्राप्त जीव के प्रत्येक अणु–परमाणु में उपास्य स्वरूप का आनन्द अनुप्रविष्ट हो जाता है आनन्द की स्फूर्ति उसके हृदय में सदा होती रहती है। सायुज्यमुक्ति में अग्नि तादात्मता–प्राप्त लोहे की भांति मुक्तजीव या स्वरूप–सायुज्य–प्राप्त जीव का सदा पृथक् अस्तित्व रहता है।

सायुज्यमुक्ति भी दो प्रकार की है–ब्रह्मसायुज्य तथा ईश्वरसायुज्य। निर्विशेष ब्रह्म के साथ तादात्मता प्राप्त करने को 'ब्रह्मसायुज्य' कहते हैं। और सविशेष भगवान् श्रीनारायणादि के स्वरूप के साथ तादात्मता प्राप्त करने का नाम ईश्वर–सायुज्य है। दोनों प्रकार की सायुज्यमुक्ति प्राप्त करने वाले जीव श्रीभगवान् के चरणारविन्द की माधुरी आस्वादन करने से उनका सेवा–सौभाग्य प्राप्त करने से वंचित रहते हैं। न तो अपने स्वरूप का, न अपने स्वरूप धर्म–भगवत्–सेवा का ही अनुसन्धान रहता है; रहती है केवल आनन्द–निमग्नता।

श्रीनारदजी ने उपर्युक्त वचनों में ऐसे सायुज्यमुक्ति–प्राप्त जीवों के लिये ही शोक प्रकट किया है, क्योंकि उन्हें श्रीकृष्ण के साक्षात्परमानन्द–लीलाविलास स्वरूप चारु–चरणारविन्द का दर्शन–स्पर्श कभी प्राप्त नहीं होता। जन्म–मरण प्राप्त करने वाले जीवों में भी कभी–किसी महत् कृपा को प्राप्त कर भक्तिपूर्वक ऐसा सौभाग्य किसी जन्म में लाभ करने की सम्भावना रहती है, परन्तु सायुज्य प्राप्त जीवों के लिये वैसी सम्भावना भी नहीं रहती। यही कारण है कि भक्त सदा भगवत् भक्ति चाहते हैं, उनकी चरण सेवा की प्राप्ति करते हैं, किन्तु भगवान् के देने पर भी मुक्ति स्वीकार नहीं करते। सायुज्य तो कभी भी नहीं चाहते। उसमें भी ब्रह्म–सायुज्य से ईश्वर सायुज्य प्राप्ति अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण है।

सरोजानां व्यूहः श्रियमभिलषन् यस्य पदयो–
र्ययौ रागाढ्यानां विधुरमुदवासव्रतविधिम्।
हिमं वन्दे नीचैरनुचितविधानव्यसनिनां
यदेषां प्राणान्तं दमनमनुवर्षं प्रणयति।।५५।।

अनुवाद–हे हंसराज ! देखो तो, लाल कमल समूह अथवा ईर्ष्यालु कमल समूह उन श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों की शोभा प्राप्त करने के लिये व्याकुल होकर निरन्तर जल में निवास रूप कठोर तप का व्रत धारण करते हैं, मैं तो उस हेमन्त ऋतु की वन्दना करती हूँ, जो नीच एवं अनुचित कर्म करने वाले उन कमलों को प्राणदण्ड देकर प्रतिवर्ष उनका विनाश कर देती है। (वे रक्तकमल क्या हमारे प्राण–प्रीतम श्रीकृष्ण की चरण शोभा प्राप्त करने के योग्य हैं ?))।।५५।।

रुचीनामुल्लासैर्मरकतमयस्थूलकदली–
कदम्बाहंकारं कवलयति यस्योरुयुगलम्।
यदालानस्तम्भद्युतिमवललम्बे बलभृतां
मदादुद्दामानां पशुपरमणीचित्तकरिणाम्।।५६।।

अनुवाद–उन श्रीकृष्ण के उरुयुगल की कान्ति मरकतमणि रचित कदली वृक्षों के अहंकार को नाश करने वाली है। उनके वे उरुयुगल गोप रमणियों के चित्तरूपी बलवती एवं दुर्गम हथिनियों को बान्ध रखने वाले स्तम्भ के समान विराजमान हैं।।५६।।

सखे ! यस्याभीरीनयनसफरीजीवनविधौ
निदानं गाम्भीर्य्यप्रसरकलिता नाभिसरसी।
यतः कल्पस्यादौ सनकजनकोत्पत्तिबड़भी–
गभीरान्तः कक्षाधृतभुवनमम्भोरुहमभूत्।।५७।।

अनुवाद–हे सखे ! उन श्रीकृष्ण का विशाल गम्भीर नाभि सरोवर तो व्रजगोपियों के नयनरूपी मछलियों का मूलप्राणाधार है। कल्प के आदि में उसीसे ब्रह्मा का उत्पत्ति स्थान कमल उत्पन्न हुआ, जिसकी विशाल नाल ने चौदह भुवन रूपी चन्द्र शालिका को मध्यवर्ती कक्ष से धारण कर रखा है।।५७।।

गोपालानुगा टीका–वस्तुतः स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकृष्ण का सृष्टि क्रम में सीधा कोई सम्पर्क नहीं है। माया के साथ जो परिदृश्यमान जगत् की कारण है, श्रीकृष्ण का दृष्टिगत भी सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं है। कल्प के आदि में भगवान् श्री नारायण–प्रथम पुरुष महाविष्णु जो कारण सागर में शयन करते हैं, वे जड़ माया के प्रति दृष्टिपात कर उसमें शक्ति का संचार करते हैं। जिससे महत्तत्व, पंचमहाभूत, इन्द्रियादि जगत् के उपादान रूप में परिणत होते हैं जिससे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड गठित होते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रथमपुरुष श्रीनारायण अपने अंश से गर्भोदशायी–श्रीनारायण (द्वितीय पुरुष) के रूप से प्रविष्ट करते हैं। अन्धकारमय ब्रह्माण्ड के आधे भाग को वे अपने स्वेद जल से पूर्णकर उसमें शेष शय्या पर शयन करते हैं। इन गर्भोदशायी श्रीनारायण की नाभि से कमल एवं उस पर ब्रह्माजी का आविर्भाव होता है। उस विशाल कमल की नाल ही चौदह भुवनों का मूलाधार भूत स्तम्भ है। श्रीब्रह्माजी काल–कर्म–संस्कारादि के अनुरूप जीव सृष्टि की रचना करते हैं।

अतः जिसकी नाभि से कमल एवं ब्रह्मा की उत्पत्ति है, वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नहीं हैं। वरं श्रीनारायण का अंशांश स्वरूप है। अंशांशी की अभेदता सिद्ध है। श्रीनारायण भगवान् श्रीकृष्ण की विलासमूर्ति हैं। अतः वे सब स्वरूप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के स्वांश हैं। उनसे सदा अभिन्न हैं। इसी बात को लक्ष्यकर श्रीललिताजी उनके नाभिसरोवर की शोभा–महिमा वर्णन कर रही हैं। जब उनके अंश के अंश स्वरूप की ऐसी महिमा है, तो स्वयं भगवान् की शोभा महिमा अनिर्वचनीय ही है–यही अभिप्राय है।।५७।।

द्युतिं धत्ते यस्य त्रिवलिलतिका संकटतरं
सखे ! दाम श्रेणीक्षणपरिचयाऽभिज्ञमुदरम्।
यशोदा यस्यान्तः सुरनरभुजंगैः परिवृतं
मुखद्वारा वारद्वयमवलुलोके त्रिभुवनम्।।५८।।

अनुवाद–हे सखे ! माता यशोदा जब उन्हें बान्ध रही थी, उस समय उन रस्सियों के क्षणमात्र के स्पर्श से उनका उदर त्रिवली लतिकासे अपूर्व शोभित हो उठा था। मृद्–भक्षण के समय तथा जम्भाई लेते समय–इस

प्रकार दो बार माता ने सुर–नर–नागों से परिवृत त्रिभुवन उनके मुख खोलने पर उनके उदर में देखा था। (हे हंस ! उनके उस ऐश्वर्य को हम कैसे भूल सकती हैं ?)।।५८।।

उरो यस्य स्फारं स्फुरति वनमालावलयितं
वितन्वानं तन्वीजनमनसि सद्यो मनसिजम्।
मरीचिभिर्यस्मिन् रविनिवहतुल्योऽपि वहते
सदा खद्योताभां भुवनमधुरः कौस्तुभमणिः।।५६।।

अनुवाद–उन श्रीकृष्णचन्द्र का विस्तीर्ण वक्षस्थल वनमाला से अलंकृत हो अति सुशोभित होता है। दर्शन–मात्र से युवतियों में वह अप्राकृत काम को उदित कर देता है। कान्ति–प्रवाह में अनेक–सूर्यों के समान देदीप्यमान तथा भुवन–सुन्दर होते हुए भी कौस्तुभमणि उनके रमणीय वक्षःस्थल पर एक खद्योत के समान हत–प्रभ सी लगती है।।५६।।

समन्तादुन्मीलद्वलभिदुपलस्तम्भयुगल–
प्रभाजैत्रं केशिद्विजलुलितकेयूरललितम्।
स्मरक्लाम्यद्गोपीपटलहठकण्ठग्रहपरं
भुजद्वन्द्वं यस्य स्फुटसुरभिगन्धं विजयते।।६०।।

अनुवाद–इन्द्रनीलमणिमय स्तम्भों की कान्तिराशि को पराजित करने वाली, केशीदैत्य के दन्तक्षत–चिह्नों एवं बाजूबन्दों से अति सुशोभित तथा स्मर–कला से उदासीन अनेक व्रजगोपियों के कण्ठदेश को बलपूर्वक ग्रहण करने में तत्पर, मधुर सौरभ–प्रसारिणी श्रीकृष्णचन्द्र की दोनों उज्ज्वल भुजाओं की सर्वतोभावेन जय हो।।६०।।

जिहीते साम्राज्यं जगति नवलावण्यलहरी–
परीपाकस्यान्तर्मुदितमदनावेशमधुरम्।
नटद्भ्रू वल्लीकं स्मितनवसुधा केलिसदनं
स्फुरन्मुक्तापंक्तिप्रतिमरदनं यस्य वदनम्।।६१।।

अनुवाद–श्रीकृष्णचन्द्र के मुख प्रदेश पर तो नवीन लावण्य–लहरियों का परिपूर्ण साम्राज्य आधिपत्य है। उसमें आनन्दमय मधुर मदनावेश है, चंचल भ्रकुटि–लताओं के नृत्य से नव–नव मन्द मुसक्यान सुधा का वह केलि–भवन अति रमणीय है। उज्ज्वल मुक्तावलि के समान उस पर उनकी दन्तपंक्ति अति शोभा विस्तार कर रही है।

किमेभिर्व्याहारैः कलय कथयामि स्फुटमहं
सखे ! निःसन्देहं परिचयपदं केवलमिदम्
परानन्दो यस्मिन्नयनपदवीभाजि भविता
त्वया विज्ञातव्यो मधुररव ! सोऽयं मधुरिपुः।।६२।।

अनुवाद–हे मधुरभाषी सखे ! इस प्रकार चरणों से लेकर मुखपर्यन्त उनके स्पष्ट चिह्नों का क्रमशः मैं कहां तक वर्णन करूँ ? उनका सुदृढ़ परिचय–चिह्न केवल यही है कि जिनके दर्शन मात्र से परानन्द में सराबोर हो उठो, उन्हें आप श्रीकृष्ण जान लेना।।६२।।

विलोकेथाः कृष्णं मदकलमरालीरतिकला–
विदग्ध व्यामुग्धं यदि पुरवधूविभ्रमभरैः।
तदा नास्मान्ग्राम्याः श्रवणपदवीं तस्य गमयेः
सुधापूर्णं चेतः कथमपि न तक्रं मृगयते।।६३।।

अनुवाद– हे हंस! आप तो मदनोन्मत्त हंसीवृन्द के साथ रतिकला में परम चतुर हो, (रसकी रीति–नीति सब जानते हैं), अतः यदि श्रीकृष्णचन्द्र को मथुरा–नागरियों के साथ विलास में मुग्ध–चित्त आप देखें, तो हम गंवारिन गोपियों की बात उनके कान में नहीं डालना–कुछ नहीं कहना। क्योंकि जिस व्यक्ति का चित्त अमृतपान से भर रहा हो, वह फिर छाछ की खोज नहीं करता। (हम गांव की गंवार गोपियां और मथुरा–नागरियां अति चतुर–रति–केलि विदग्धा! –हमारी बात तब वे क्यों सुनने लगे ?)।।६३।।

यदा वृन्दारण्यस्मरणलहरीहेतुरमलं
पिकानां वेवेष्टि प्रतिहरितमुच्चैः कुहुरुतम्
वहन्ते वा वाताः स्फुरितगिरिमल्लीपरिमला–
स्तदैवास्माकीनां गिरमुपहरेथा मुरभिदि।।६४।।

अनुवाद– हे सखे! वृन्दावन की धारा–वाही स्मृति–लहरी को प्रवाहित करने वाली कोकिलाओं की कुहु–कुहु रसमयी उच्चध्वनि जब चारों ओर व्याप्त हो रही हो, तथा कुट्जादि पुष्पों का मनोरम सुगन्धियुक्त पवन बह रहा हो, उस समय ही आप हमारे सम्बन्ध की वार्त्ता श्रीकृष्णचन्द्र को निवेदित कीजिये और ऐसे कहियेगा।

पुरा तिष्ठन् गोष्ठे निखिलरमणीभ्यः प्रियतया
भवान् यस्यां गोपीरमण ! विदधे गौरवभरम्।
सखी तस्या विज्ञापयति ललिता धीरललित !
प्रणम्य श्रीपादाम्बुजकनकपीठोपरिसरे।।६५।।

अनुवाद–हे धीरललित ! हे गोपीरमण ! कुछ समय पूर्व गोष्ठ–व्रज में निवास करते समय समस्त व्रजरमणियों में जिस (श्रीराधाजी) को प्रियतमा मानकर आपने अतिशय गौरव प्रदान किया था, उसी की ही सखी मैं ललिता आपके श्रीचरण कमलों की सुवर्ण मण्डित पाद–पीठ (चौकी) के प्रान्तदेश को नमस्कार कर यह निवेदन करती हूँ।।६५।।

गोपालानुगा–टीका–स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण चतुर्विध नायक रूपों में विराजमान हैं–१–धीरोदात्त, २–धीरललित, ३–धीरप्रशान्त एवं ४–धीरोद्धत। जो नायक गम्भीर–स्वभाव, विनयी, क्षमाशील, करुण, सुदृढ़व्रत, आत्मश्लाघारहित, गूढ़गर्व तथा अतिशय बलवान हो–उसे 'धीरोदात्तनायक' कहा जाता है। जो नायक रसिक, नवतरुण, परिहास विशारद, निश्चिन्त तथा प्रायः प्रेयसी के वशीभूत रहता है–उसे 'धीरललित–नायक' कहा जाता है। (प्रियसियों के प्रेम–तारतम्यानुसार उसकी प्रेयसी–वश्यता में भी तारतम्य रहता है) 'धीरप्रशान्त–नायक' वह है, जो शान्त–प्रकृति, क्लेश सहिष्णु,

विवेचक तथा विनयादि गुणों से युक्त हो। 'धीरोद्धत्त–नायक' वह है जो मात्सर्य युक्त हो, अहंकारी, मायावी, क्रोधी, चञ्चल तथा आत्मश्लाघी हो।

एक व्यक्ति में एक प्रकार के नायक–गुण होते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण में चारों नायकों के गुण विराजमान हैं (यह प्रसंग लेखक द्वारा सम्पादित श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु हिन्दी संस्करण में विशेष द्रष्टव्य है)।

यहां श्रीललिताजी ने श्रीकृष्ण को 'धीरललित' कहकर सम्बोधित किया है। व्रज में श्रीराधाजी के सर्वातिशायी प्रेमाधिक्य के कारण उनकी प्रेयसी–वश्यता को ही लक्ष्य किया गया है। ऐसे ही 'गोपी–रमण' सम्बोधन द्वारा। 'महर' एक प्रकार का व्यंग है– हे धीरललित ! हे गोपीरमण ! अब वह रसिकता या विदग्धता तथा श्रीराधा प्रेमवश्यता कहां गयी है आपकी ? निश्चिन्तता को ही अपनाकर बैठ गये हो ? गोपीरमण कहलाने वाले पुरस्त्री रमण बने बैठे हो?।।६५।।

प्रयत्नादावाल्यं नवकमलिनीपल्लवकुलै–
स्त्वया भूयो यस्याः कृतमहह सम्वर्द्धनमभूत।
चिरादूधोभारास्फुरणगरिमाक्रान्तजघना
वभूव प्रष्ठोही मुरमथन ! सेयं कपिलिका।।६६।

अनुवाद–हे राजहंस ! उनसे कहना–हे मुरारि कृष्ण ! आपने बाल्यकाल से जिस कपिला गाय को अति प्रयत्न एवं स्नेह से बार–बार नव–नव कमलों के पत्ते खिलाकर पाला–पोसा था, वह प्रथम गर्भिणी हुई है, अनेक दिनों से स्तनवृद्धि के भार से उसका जघन देश–(नितम्ब देश) हाय ! अति श्रमाक्रान्त हो रहा है।

गोपालानुगा–टीका–श्रीललिताजी ने संवाद में पहले–पहले अपनी या व्रजरमणियों की विकल–अवस्था का प्रकाशित करना उचित नहीं समझा। अतः गोधन–प्रिय श्रीगोपाल का ध्यान उनकी प्रिय कपिलागाय की विकलता की ओर आकर्षित किया है सर्वप्रथम। परम चतुरा हैं श्रीललिता जी ! इस सन्देश में भी मधुररस की भावना (पुट) लगायी है, जिसमें कान्त–कान्ता मिलनोचित सौरभ बिखरता प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार की परोक्ष कथन शैली को परवर्ती संवादों में भी अपनाया गया है।।६६।।

समीपे नीपानां त्रिचतुरदला हंत गमिता
त्वया माकन्दस्य प्रियसहचरीभावनियतिम्।
इयं सा वासन्ती गलदमलमाध्वीकपटली–
मिषादग्रे ! गोपीरमण ! रुदती रोदयति नः।।६७।।

अनुवाद– हे गोपीरमण ! आपके व्रज में रहते समय कदम्ब वृक्षों के निकटवर्ती जिस माधवी लता में तीन–चार पत्ते ही निकल पाये थे, और जिसको आम्रवृक्ष की प्रिय सहचरी बना गये थे अर्थात् आमवृक्ष के साथ जिसका संयोग कर गये थे, अर्थात् मानो विवाह कर गये थे, वह आज विमल

मकरन्दधारा वर्षण करने के बहाने आपके विरह में रो रही है, हम सबको भी रुला रही है।

प्रसूतो देवक्या मधुमथन ! यः कोऽपि पुरुषः
स जातो गोपालाभ्युदयपरमानन्दवसतिः।
धृतो यो गान्दिन्या कठिनजठरे सम्प्रति ततः
समन्तादेवास्तं शिव शिव गता गोकुलकथा।।६८।।

अनुवाद–हे मधुमथन ! जो एक अनिर्वचनीय पुरुष देवकी से उत्पन्न हुआ था और गोपगणों का मंगलकारी तथा उनके परमानन्द का निधान बन गया था, उसे गान्दिनी की कठिन कूख से उत्पन्न (जिसका नाम भी लेना पाप है अक्रूर) व्यक्ति ने हरण कर हाय ! हाय !! आज गोकुल की समस्त कथा–चर्चा अर्थात् रसवार्ता को विनष्ट कर दिया है। (श्रीकृष्ण की गोकुल लीलाओं की स्मृति अतीत गर्भ में विलीन हो गयी है)।।६८।।

अरिष्टेनोद्धृताः पशुपसुदृशो यान्ति विपदं
तृणावर्त्ताक्रान्त्या रचयति भयं चत्वरचयः।
अमी व्योमीभूता व्रजवसति–भूमीपरिसरा
वहन्ते नस्तापं मुरहर ! विदूरं त्वयि गते ।।६९।।

अनुवाद–हे मुरारे ! आपके मथुरापुरी चले जाने पर गोपसुन्दरिगण अरिष्टासुर के भय से कांपती हुई विनाश को प्राप्त हो रही हैं, यहां के सभी चौराहे तृणावर्त्त के भय से आक्रान्त होकर, भयानक प्रतीत होने लगे हैं, वृन्दावन–प्रदेश व्योमासुर से व्याप्त होकर हमें अतिशय ताप प्रदान कर रहा है अथवा आपके बिना सर्वत्र शून्यता ही दीखने लगी है।।६९।।

त्वया नागन्तव्यं कथमिह हरे ! गोष्ठमधुना
लताश्रेणी वृन्दावनभुवि यतोऽभूद्विषमयी ?
प्रसूनानां गन्धं कथमितरथा वातनिहितं
भजन् सद्यो मूर्च्छां वहति निवहो गोपसुदृशाम् ?।।७०।।

अनुवाद–हे कृष्ण ! अब कभी भी आप गोष्ठ–वृन्दावन में नहीं आना क्योंकि वृन्दावन की समस्त लताएँ विष उगलने लगी हैं। यदि ऐसा न होता तो वायु द्वारा प्रेरित उन लताओं के पुष्पों की गन्ध पाकर व्रजगोपियां तत्काल मूर्च्छित क्यों हो जाती हैं ?–(आने के निषेध–व्याज से व्रजगोपियों ने कृष्ण विरह से उत्पन्न अपनी दशा को प्रकाशित किया है इस श्लोक में–अर्थात् हे कृष्ण ! अब आपको शीघ्रगोष्ठ में लौट आना चाहिए यह तात्पर्य है)।।७०।।

कथं संगोऽस्माभिः सह समुचितः संप्रति हरे !
वयं ग्राम्या नार्य्यस्त्वमसि नृपकन्यार्चितपदः ?
गतः कालो यस्मिन् पशुपरमणीसंगमकृते
भवान् व्यग्रस्तस्थौ तमसि गृहवाटीविटपिनिः।।७१।।

अनुवाद– हे हरे ! अब आपको हम लोगों का संग करना कैसे उचित हो सकता है ? –उचित नहीं है, क्योंकि हम ग्रामवासिनी–ग्वालिनियां हैं, हम

चतुर नहीं। आपके चरणों की सेवा तो राजकन्याओं के द्वारा निष्पन्न हो रही होगी। वह समय बीत गया, जब आप गोपरमणी–श्रीराधाजी के संग के लिये अन्धेरी रात्रि में भवन–निकटवर्ती वृक्षावृतकुँजों में व्याकुल होकर–प्रतीक्षा करते रहते थे–सारी–सारी रात जागते रहते थे।।७१।।

वयं त्यक्ताः स्वामिन् ! यदिह तव किं दूषणमिदं
निसर्गः श्यामानामयमतितरां दुष्परिहरः ?
कुहूकण्ठैरण्डावधि सहनिवासात् परिचिता
विसृज्यन्ते सद्यः कलितनवपक्षैर्बलिभुजः।।७२।।

अनुवाद–हे नाथ ! आपने जो हमारा परित्याग कर दिया है, इसमें आपका क्या दोष ? श्यामरंग वालों का ऐसा ही स्वभाव है, जो दुस्त्यज्य है। अर्थात् यह दोष आपके श्यामवर्ण का है, आपका नहीं ! देखिये, शिशु कोकिलाएं कौओं के आहार से पलती हैं, एवं उनके साथ भी रही आती हैं, किन्तु जब उनके पंख निकल आते हैं, तो उसी क्षण कौओं को त्याग कर चली जाती हैं। श्यामवर्ण का ही यह नैसर्गिक–दोष है–आपका नहीं ।।७२।।

अयं पूर्वो रंगः किल विरचितो यस्य तरसा
रसादाख्यातव्यं परिकलय तन्नाटकमिदम्।
मया पृष्टव्योऽसि प्रथममिति वृन्दावनपते !
किमाहो राधेति स्मरसि कृपणं वर्णयुगलम् ?।।७३।।

अनुवाद–हे वृन्दावनाधीश्वर ! जिस नाटक के पूर्वरंग को पहले अनुरागपूर्वक वर्णन कर चुकी हूँ, अब उस विप्रलम्भ रसमय नाटक को सावधान होकर श्रवण करो। मैं सबसे पहले आपसे यह पूछती हूँ कि उस दीन 'राधा' का दो वर्णों वाला यह नाम भी कभी आपको स्मरण आता है ? –उसकी याद कभी आपको आती है ?।।७३।।

गोपालानुगा टीका–राजहंस के रूप में मानो श्रीललिता अपने को श्रीकृष्ण के सामने उपस्थित जानकर कह रही हैं। नाटक दो प्रकार का होता है श्रव्य तथा दृश्य भेद से। श्रव्य नाटक तो केवल कानों से सुना जाता है और दृश्य–नाटक नेत्रों से देखा जाता है, जिसे अभिनेता अनुकरण करके मंच पर दिखाते हैं। नाटक आरम्भ होने से पहले मंच पर नर्तक–नर्तकी आकर विघ्नों के विनाश के लिये मंगलाचरणरूप में स्तुति–वन्दनादि प्रस्तुत करते हैं। उसे 'पूर्वरंग' कहा जाता है। श्रीललिताजी ने कहा कि अब तक जो मैं (हंसद्वारा) कहला चुकी हूँ, वह विरह रसमय श्रव्य नाटक का पूर्वरंग था। अब उस श्रव्य नाटक का आरम्भ करती हूँ अर्थात् श्रीराधाजी की आपके विरह में क्या दशा है, व्रजगोपियों की क्या दीन अवस्था है, उसे मैं सुनाती हूँ। आप उसका ध्यान पूर्वक श्रवण कीजिये। मेरा पहला प्रश्न है कि क्या आप उस दो वर्णों वाले–सरल सरस 'राधा' नाम को कभी याद करते हैं ? राधानाम के स्मरण करने पर ही तो श्रीराधा के विषय में सब लीला–कथा उनका रूप–सौन्दर्य, प्रेम–माधुर्य ह्रदय में स्फुरित होता है। यदि राधानाम की स्मृति नहीं

होती तो फिर श्रीराधानाम्नी मूर्त्ति का प्रकाश या उसकी अनुभूति–स्फूर्त्ति कैसे सम्भव हो सकती है–यही तात्पर्य है श्रीललिता के प्रथम प्रश्न का ।।७३।।

अये कुञ्जद्रोणीकुहरगृहमेधिन् ! किमधुना
परोक्षं वक्ष्यन्ते पशुपरमणीदुर्नियतयः ?
प्रवीणा गोपीनां तव चरणपद्मेऽर्पितमना
ययौ राधा साधारणसमुचितप्रश्नपदवीम् ।।७४।।

अनुवाद–ओ कुञ्जघाटी स्थित केलिभवन–विहारि हाय ! हाय !! जब आपके चरणकमलों में काय–मनेन्द्रिय–अपना सर्वस्व अर्पण कर देने वाली सर्वगोपी–श्रेष्ठा श्रीराधा ही एक सामान्य–युवति की पदवी को प्राप्त कर चुकी है, तब आपकी आंखों से ओझल अन्यान्य व्रजगोपियों के दुर्भाग्यों की चर्चा आपके सामने करने से अब क्या ?।।७४।।

त्वया गोष्ठं गोष्ठी तिलक ! किल चेद्विस्मृतमिदं
न तूर्णं धूमोर्णापतिरपि विधत्ते यदि कृपाम्।
अहर्वृन्दं वृन्दावनकुसुमपालीपरिमलै।
र्दुरालोकं शोकास्पदमथ कथं नेष्यति सखी।।७५।।

अनुवाद–हे गोपीवृन्द–भूषण ! आप जब गोष्ठ को भूल चुके हैं, तो यमराज भी शीघ्र इस पर कृपा नहीं कर पा रहा–अर्थात् हम लोगों को मृत्यु भी शीघ्र नहीं आ रही है। सखी श्रीराधा में श्रीवृन्दावन कुसुमावली की सौरभ से आपकी स्मृति जाग उठती है, किन्तु आपके दर्शनों के बिना शोक भरे दिन वह कैसे गुजारेगी ? यदि उसे देखना चाहें तो आप यहां आकर देख सकते हैं।।७५।।

तरंगैः कुर्वाणा शमनभगिनीलाघवमसौ
नदीं काञ्चिद् गोष्ठे नयनजलपूरैरजनयत्।
इतीवास्या द्वेषादभिमतदशाप्रार्थनमयीं
मुरारे ! विज्ञप्तिं निशमयति मानी न शमनः।।७६।।

अनुवाद–हे मुरारे ! श्रीराधा ने अपने नेत्रजल से गोष्ठ में एक अनिर्वचनीय नदी प्रवाहित कर दी है। उसने अपनी तरंगों से यमुना को तिरस्कृत कर दिया है। अपनी बहन यमुना की लाघवता को देखकर यमराज भी द्वेष मान रहा है। अतः वह अभिमानी यम श्रीराधा की मृत्यु के लिये प्रार्थना को भी नहीं सुनता है।।७६।।

कृताकृष्टिक्रीड़ं किमपि तव रूपं मम सखी
सकृद्दृष्ट्वा दूरादहितहितबोधोज्झितमतिः।
हता सेयं प्रेमानलमनुविशन्ती सरभसं
पतंगीवात्मानं मुरहर ! मुहुर्दाहितवती।।७७।।

अनुवाद–हे मुरारे ! आपके रूप को मेरी सखी श्रीराधा ने दूर से ही एक बार देखा फिर भी आपके रूप ने उसे सब ओर से आकृष्ट कर वशीभूत कर लिया। तब से वह अपने अनहित–हित को समझने की बुद्धि से रहित हो गयी

है। हतप्राया वह श्रीराधा पतंगी की भाँति आपकी प्रेमाग्नि में पूर्णतः प्रविष्ट हो जाने के लिए बार–बार जल रही है।।७७।।

मया वाच्यः किंवा त्वमिह निजदोषात् परमसौ
ययौ मन्दा वृन्दावनकुमुदबन्धो ! विधुरताम्।
यदर्थं दुःखाग्निर्दहती हि तमद्यापि हृदया–
न्न यस्माद्दुर्मेधा लवमपि भवन्तं दवयति।।७८।।

अनुवाद–हे वृन्दावनचन्द्र ! मेरे अधिक कहने का क्या प्रयोजन ? वह श्रीराधा केवल अपने दोष से ही हतभागिनी विरहव्याकुलता को प्राप्त कर रही है। और वह दुर्बुद्धि दुःख अग्नि में जल रही है, किन्तु आज भी वह एक क्षण के लिये आपको अपने हृदय से दूर नहीं कर पा रही है। (आपको भूलने में असमर्थ होकर वह इतना दुख पा रही है–मैं और क्या कहूँ) ?।।७८।।

त्रिवक्राहो धन्या हृदयमिव ते स्वं वपुरियं
समासाद्य स्वैरं यदिह विलसन्ती निवसति।
ध्रुवं पुण्यभ्रंशादजनि सरलेयं मम सखी
प्रवेशस्तत्रासीत् क्षणमपि यदस्या न सुलभः।।७६।।

अनुवाद–अहो ! वह त्रिवक्रा–कुब्जा धन्य है, जो आपके मनोनुकूल अपना शरीर प्राप्त कर स्वच्छन्द विहार करती हुई निवास कर रही है। निश्चय ही मेरी सखी श्रीराधा के पुण्य नाश होने से वह सरला–सीधी होते हुए भी वृन्दावन रहकर आपके हृदय में एक क्षण के लिए प्रवेश प्राप्त न कर सकी।।७६।।

गोपालानुगा–टीका–श्रीललिता ने प्रणय–व्यंग करते हुए कहा है कि सैरन्ध्री–(कुब्जा) का भी तीन स्थानों पर कूब निकला हुआ था एवं आप तो ललित–त्रिभंग विख्यात ही हैं। अतः आपके अनुकूल ही था उसका शरीर। उसने आपके शरीर को ही नहीं, आपके मन को भी वशीभूत कर आपके हृदय में घर बना लिया है। मथुरा में रहते हुए एक ही नजर में उसने आपको लूट लिया और मथुरा में आनन्द पूर्वक रह रही है। किन्तु हाय ! कितना दुख है कि मेरी सखी श्रीराधा शरीर–गठन से भी अति सौन्दर्यमयी, मन से भी अति भोली–भाली सरल–स्वभावा है, आपके साथ वृन्दावन में रहकर भी वह आपके मन को वशीभूत न कर सकी, न आपके हृदय में अब उसकी स्मृति ही रह सकी। अतः मैं जानती हूँ कि उसके पुण्य ही समाप्त हो गये। तभी तो वह आपके विरह में इतना दुख भोग रही है।।७६।।

किमाविष्टा भूतैः सपदि यदि वाक्रूरफणिना
क्षतापस्मारेण च्युतमतिरकस्मात् किमपतत्।
इति व्यग्रैरस्यां गुरुभिरभितो वेणुनिनद–
श्रवादविभ्रष्टायां मुरहर ! विकल्पा विदधिरे ।।८०।।

अनुवाद– हे मुरारे ! मेरी सखी श्रीराधा अब भी कहीं से वेणु की ध्वनि सुनकर बेसुध होकर पृथ्वी पर गिर जाती है। तब उसके सास–ननद आदि

गुरुजन उसे चारों ओर से घेर लेते हैं और उसकी मूर्च्छा के कारण की अनेक प्रकार की विवेचना करने लगते हैं– कोई कहता है, इसे किसी भूत का आवेश है क्या ? अथवा क्रूर सर्प (दुष्ट–अक्रूर) ने ही इसे काट खाया है ? कहीं अपस्मारमृगी रोग के दौरे से तो यह भ्रष्ट–मति होकर नहीं गिर पड़ी है? –इस प्रकार व्याकुल होकर उसके गुरुजन अनेक कल्पनाएं करते हैं।।८०।।

नवीनेयं सम्प्रत्यकुशलपरीपाकलहरी
नरीनर्त्ति स्वैरं मम सहचरीचित्तकुहरे।
जगन्नेत्रश्रेणीमधुर ! मथुरायां निवसत–
श्चिरादार्त्ता वार्त्तामपि तव यदेषा न लभते।।८१।।

अनुवाद–हे जगन्नेत्र–श्रेणी–प्रिये ! मेरी सखी श्रीराधा के अन्तस्तल में अब तो एक नवीन अमंगल की परिणाम–स्वरूप तरंगें अपने–आप उछलने लगी हैं। (कंस–जरासन्धादि शत्रुओं के बीच रहकर आप कुशल पूर्वक तो हैं, कि नहीं ? ऐसी अमंगलमयी शंकाएं उसके चित्त में उठ–उठकर उसे उद्विग्न करने लगी हैं) चिरकाल से आप मथुरा में रह रहे हैं, किन्तु आपका कोई कुशल–संवाद भी तो उसे नहीं मिल रहा है।।८१।।

जनान् सिद्धादेशान् नमति भजते मान्त्रिकगणान्
विधत्ते शुश्रूषामधिकविनयेनौषधिविदाम्।
त्वदीक्षादीक्षायै परिचरति भक्त्या गिरिसुतां
मनीषा हि व्यग्रा किमपि सुखहेतुं न मनुते।।८२।।

अनुवाद–हे कृष्ण ! मेरी सखी श्रीराधा प्रायः सिद्ध–वाक् महापुरुषों की वन्दना करती रहती है, (यह पूछने के लिये कि आप उसे कब दर्शन देंगे)। कभी सिद्ध–मान्त्रिक–जनों के पास जाकर (आपको आकर्षण करने वाले मन्त्रों की) जिज्ञासा करती रहती है। कभी–कभी औषधिवेत्ता कुशल वैद्यों की सेवा करती और विनयपूर्वक अपने चित्त की वेदना को दूर करने का उपचार उनसे पूछती रहती है। कभी–कभी तो आपके दर्शन प्राप्त करने के लिये गिरजादेवी–कात्यायनी की अति भक्ति–श्रद्धा सहित पूजा करने लगती है। किन्तु हाय ! उस विरह कातरा श्रीराधा को किसी उपाय से भी तो सुख प्राप्त नहीं हो रहा है।।८२।।

पशूनां पातारं भुजगरिपुपत्रप्रणयिनं
स्मरोद्वर्द्धिक्रीड़ं निबिड़घनसारद्युतिहरम्।
सदाभ्यर्णे नन्दीश्वरगिरिभुवो रंगरसिकं
भवन्तं कंसारे ! भजति भवदाप्त्यै मम सखी।।८३।।

अनुवाद–हे कंसारे ! मेरी सखि श्रीराधा आपका दासत्व प्राप्त करने के लिए उन पशुपति अर्थात् श्रीसदाशिव को मनाती रहती है, जिनको मोरपुच्छ–वाहन अर्थात् कार्त्तिकेय (अपना पुत्र) अति प्रिय है, जिन्होंने कामदेव को ध्वंस करने की लीला की है, जिनकी अंगकान्ति कपूर की द्युति को हरण करने वाली है और जो सदा नन्दीश्वर गिरि के निकट नृत्यरंग में रसाविष्ट है।।८३।।

गोपालानुगा–टीका–श्रीराधाजी ने जब सिद्धवाक् महानुभावों से यह पूछा कि श्रीकृष्ण के दर्शन मुझे कब–कैसे शीघ्र प्राप्त होंगे ?–तो उन्होंने कहा–श्रीकृष्ण किसी की भी कामना को शीघ्र पूरा नहीं करते हैं, न किसी पर शीघ्र प्रसन्न ही होते हैं, अतः तुम श्रीसदाशिव की आराधना करो वे आशुतोष हैं। आराधकों की सब कामनाओं को शीघ्र पूर्ण करने वाले हैं, उनके प्रसन्न होने पर उनसे श्रीकृष्ण–दर्शन प्राप्ति का वर मांग लेना। वे हैं भी परम वैष्णव, महा–भागवत उनकी कृपा से निश्चय ही श्रीकृष्ण शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं।

अतः श्रीराधाजी श्रीसदाशिव को मनाने लगीं–ऐसा लगता है, किन्तु यह अर्थ असंगत है श्रीराधाजी के पक्ष में श्लोक का वास्तव या रहस्यमय अर्थ इस प्रकार है–

हे कंसारे ! मेरी सखी श्रीराधा सदा आपका स्मरण–चिन्तन करती रहती हैं। आप व्रजपशुओं (गायादिक) के पालक या गोपाल हैं। भुजगरिपु अर्थात् मोर का पुच्छ आपको अति प्रिय है, उसे मस्तक पर सदा आप धारण करते हैं। अथवा भुजग–रिपु जो गरुड़ है, वह आपका प्रिय वाहन हैं। आपकी क्रीड़ा (व्रजगोपियों सहित रास क्रीड़ा) काम की शमनकारी–या ध्वंसकारी है।

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोग–
माश्वपोहिनोत्यचिरेण धीरः ।।श्रीभा० १० ।३३ ।४०

आपकी श्रीअंग कान्ति सजलघन की द्युति को हरने वाली है। नन्दीश्वर–गिरि के परिसर में रासनृत्य–रसिक आपका वह राधा सदा भजन करती रहती है।।

व्रज मण्डल में श्रीविष्णु गोवर्धन–गिरि के रूप से तथा श्रीब्रह्मा बरसाने में वृषभानु–गिरि रूप से तथा श्रीसदाशिव नन्दगांव में नन्दी–गिरि नाम से विराजमान है। जिससे उनका नाम भी नन्दीश्वर प्रसिद्ध हुआ है। स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्दनन्दन की लीला–माधुरी एवं व्रजरजाभिषेक–प्राप्ति की कामना से ये तीनों पर्वताकार में विराजमान हैं, ताकि उनकी व्रज–अवस्थिति अचल बनी रहे।।८३।।

भवन्तं सन्तप्ता विदलिततमालांकुररसै–
र्विलिख्य भ्रू–भंगीकृतमदनकोदण्डकदनम्।
निधास्यन्ती कण्ठे तव निजभुजावल्लरिमसौ
धरण्यामुन्मीलज्जड़िमनिबिड़ांगी विलुठति।।८४।।

अनुवाद–हे मुरारे ! श्रीराधा आपके विरह में सन्तप्त होकर तमालवृक्ष के अंकुरों को मर्दन करके उनके रस से भ्रू–भंगीद्वारा कामधनुष को भंग करने वाली आपकी मधुर–मूर्ति का चित्रण करती है। (जैसा कि प्रोषित–भर्त्तृका नायिका किया करती है) फिर आपकी उस मूर्ति के गले में अपनी भुज–लताओं

को जब अर्पण करना चाहती है, तो उसके सब अंग निबिड़ जड़ता–(स्तम्भरूपी–सात्त्विकविकार) को प्राप्त करते हैं और वह मूर्छित होकर धरणी पर गिर पड़ती है। –ऐसी अवस्था है मेरी सखी श्रीराधा की आपके दर्शनों के बिना।।८४।।

कदाचिन्मूढेयं निबिड़भवदीयस्मृतिमदा–
दमन्दादात्मानं कलयति भवन्तं मम सखी।
तथास्या राधाया विरहदहनाकल्पितधियो
मुरारे ! दुःसाधा क्षणमपि न बाधा विरमति।।८५।।

अनुवाद–हे मुरारे ! मेरी वह मूढ़ (अतिदुखित) सखी श्रीराधा आपकी अखण्ड स्मृति के मद में (आनन्दावेश में) असीम आनन्द–निमग्न होकर अपने को आप (श्रीकृष्ण) ही समझने लगती है–(आपके स्वरूप से तादात्मता प्राप्त कर लेती है।) इस प्रकार उसकी विरहानल में सन्तप्त बुद्धि दुःसाध्य कल्पनाएं करती रहती है। एक क्षण मात्र के लिए भी उसकी विरह–पीड़ा निवृत्त नहीं होती।

गोपालानुगा–टीका–श्रीकृष्ण–प्रेम की परिणति के उत्तरोत्तर कई स्तर हैं–स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव। श्रीराधाजी मादनाख्य महाभाव स्वरूपिणी हैं, इनमें समस्त स्तर पूर्ण–उत्कर्ष से आविर्भूत होते हैं। ममताबुद्धि की अधिकता तथा अखण्ड चिन्तन द्वारा प्रेम एक ऐसी उत्कर्षमयी अवस्था को प्राप्त करता है कि प्रेमी के प्राण, मन, बुद्धि, देह तथा वेषभूषादि तक भी प्रेमास्पद (श्रीकृष्ण) से अभिन्न प्रतीत होने लगते हैं। –इस स्तर का नाम है–प्रणय। अखण्ड स्मृति–आनन्द–सुधा में आविष्ट होकर प्रणयावस्था में ही श्रीराधा जी अपने को श्रीकृष्ण ही समझने लगती थीं। यहां सायुज्य अभिप्रेत नहीं है।।८५।।

त्वया सन्तापानामुपरि परिमुक्तापि रभसा–
दिदानीमापेदे तदपि तव चेष्टां प्रियसखी।
यदेषा कंसारे ! भिदुरहृदयं त्वामवयती
सतीनां मूर्द्धन्या भिदुरहृदयाभूदनुदिनम्।।८६।।

अनुवाद–हे कंसरिपो ! यद्यपि आपने मेरी सखी को इस समय परस्पर सम्बन्धों की सीमा का उल्लंघन करने वाले सन्तापों में डाल रखा है, तथापि ऐसी अतिशय विरहावस्था में भी वह आपकी चेष्टाओं (लीलाओं) का अनुकरण करती रहती है। वह है तो पतिव्रताओं की मुकुट–मणिस्वरूपा, किन्तु आपको विदीर्ण–हृदय जानकर वह भी प्रतिदिन विदीर्ण–हृदया होती जा रही है। व्यंग में श्रीकृष्ण को विदीर्ण हृदय कहा गया है अर्थात् आप अति कठिन हृदय हैं, जरा भी आपका हृदय द्रवित नहीं होता। अतः यह जानकर श्रीराधा भी विदीर्ण–हृदया अर्थात् वज्र के समान कुलिश–कठोर होती जा रही है। तात्पर्य यह है कि आप तो हृदय की कठिनता से प्रेमशून्य हो रहे हैं, और मेरी सखी श्रीराधा आपके विरह–शोक से हृदय की कठिनता को प्राप्त हो रही है।।८६।।

समक्षं सर्वेषां निवससि समाधिप्रणयिना-
मिति श्रुत्वा नूनं गुरुतरसमाधिं कलयति।
सदा कंसाराते ! भजसि यमिनां नेत्रपदवी-
मिति व्यक्तं सज्जीभवति यममालम्बितुमपि।।८७।।

अनुवाद-हे कंस-शत्रो ! सब समाधि-परायण साधकों के सामने या उनके ध्यान में ही आप अप्रत्यक्ष रूप से गोचर होते हैं-यह बात सुनकर श्रीराधा तो निश्चय ही उनकी समाधि से भी गुरुतर (ऊँची) समाधि की चेष्टा कर रही है, (जिससे आप प्रत्यक्ष रूप से उसे प्राप्त हो सकें)। वह जान गयी है कि योगीजनों के सामने आप प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं। अतः अब वह सदा देह-इन्द्रियों के संयम पूर्वक (अर्थात् आहार-विहारादि सबका त्याग करके) यम (मृत्यु) को भी आलिंगन करने का मानो योगाभ्यास कर रही है। उसका यम-नियमाचरण मानो यम को आलिंगन करने के लिए सम्पादित हो रहा है।।८७।।

मुरारे ! कालिन्दीसलिलचलदिन्दीवररुचे !
मुकुन्द ! श्रीवृन्दावनमदन ! वृन्दारकमणे !
व्रजानन्दिन्नन्दीश्वरदयित ! नन्दात्मज ! हरे !
सदेति क्रन्दन्ती परिजनशुचं कन्दलयति।।८८।।

अनुवाद-(श्रीराधा का योगाचरण तो यह हो रहा है कि- हे मुरारे ! हे कालिन्दी में प्रस्फुटित नीलकमल की कान्ति को धारण करने वाले श्याम सुन्दर ! हे मुकुन्द ! हे वृन्दावन-नव कंदर्प हे इन्द्रनीलमणिवरेण्य ! (अथवा हे देवगण मुकुटमणे !) हे व्रजजन आनन्द-दाता ! हे नन्दीश्वर-(शिव)-प्रिय ! हे नन्दनन्दन ! हे सर्वदुखहारि !-इस प्रकार आपके नामों को पुकार-पुकारकर विलापपूर्वक रोती रहती है और हम सब सखियों के शोक को बढ़ाती रहती है। (आपके दर्शनों की प्राप्ति का उपाय आपके उच्चनामसंकीर्तन को छोड़कर उसे और कुछ नहीं दीखता)।।८८।।

समन्तादुत्तप्तस्तव विरहदावाग्निशिखया
कृतोद्वेगः पञ्चाशुगमृगयुवेध व्यतिकरैः।
तनूभूतं सद्यस्तनुवनमिदं हास्यति हरे !
हठादद्य श्वो वा मम सहचरी-प्राणहरिणः।।८९।।

अनुवाद-हे सर्वदुखहर्ता ! श्रीराधा का अतिक्षीण शरीररूपी वन आपकी विरहरूपी दावाग्नि की शिखाओं से चारों ओर से धधक उठा है और मदनरूप व्याध के पांच-बाणों से उत्पीड़ित हो रहा है। अतः सहसा (किसी भी क्षण) आज नहीं तो कल मेरी सखी श्रीराधा का प्राण रूप हरिण अब इस (तनरूपी) वन का परित्याग कर देगा।

पयोराशिस्फीतत्विषि हिमकरोत्तंसमधुरे।
दधाने दृग्भंगया स्मरविजयि रूपं मम सखी।
हरे ! दत्तस्वान्ता भवति तदिमां किं प्रभवति
स्मरो हन्तुं किन्तु व्यथयति भवानेव कुतुकी।।९०।।

अनुवाद– हे सखे (मैं कुछ भूल से कह गयी) सुनो, मेरी सखी श्रीराधा ने अपना अन्तःकरण (मन–बुद्धि–चित्त–अहंकार–सब कुछ) आप में ही समर्पण कर रखा है। तब भला मदन (काम–व्याध) उसका क्या बिगाड़ सकता है? श्रीराधा की देह कान्ति विस्तृत दुग्धराशिमय (क्षीरसागरवत्) है। चन्द्र ही उनका सुन्दर शिरोभूषण है। (शिवसदृश) उसका ऐसा रूप है कि एक भ्रूभंगी से वह मदन को पराभूत कर देता है। किन्तु हाय! आप ही एक ऐसे कौतुकी अप्राकृत–मदन हैं, जो उसे अतिशय दुःख दे रहे हैं, उसके दुःख का कारण और कोई नहीं है।।६०।।

विजानीषे भावं पशुपरमणीनां यदुपते!
न जानीमः कस्मात्तदपि बत मायां रचयसि।
समन्तादध्यात्मं यदिह पवनव्याधिरसलप–
दवलावस्यास्तेन व्यसनकुलमेन द्विगुणितम्।।६१।।

अनुवाद–हे यदुपते! गोपसुन्दरियों के मनोभावों को आप तो भली भांति जानते ही हैं, कि वे आपके दर्शनों के बिना अति व्यग्र जीवन यापन कर रही हैं, फिर भी न जाने आपने क्यों माया (कपट) रच रखी है? (व्रज में आने का नाम नहीं लेते।) आपने पवन–व्याधि अर्थात् उद्धव के हाथों जो अध्यात्म–उपदेश या परमात्म– तत्वज्ञान का सन्देश भेजा था, उससे श्रीराधा की सन्ताप–राशि पर विरह–व्यथा कम नहीं हुई, बल्कि तब से सर्वथा दुगनी हो गयी है।।६१।।

गुरोरन्तेवासी स भजति यदूनां सचिवतां
सखी कालिन्दीयं किल भवति कालस्य भगिनी।
भवेदन्यः को वा नरपतिपुरे मत्परिचितो
दशामस्याः शंसन् यदुतिलक! यस्त्वामनुनयेत्?।।६२।।

अनुवाद–हे यदुकुलभूषण! (जिसे आपने यहां भेजा था) वह बृहस्पति का शिष्य उद्धव अब यादवों के मन्त्रीपद को प्राप्त कर चुका है। (अतः वह हम व्रजवासियों की मंगल कामना क्यों करने लगा?) यमुना (नित्य प्रवाह रूप में वृन्दावन से मथुरा जाती है और हमारी अवस्था उससे छिपी नहीं) है तो यम की बहन है। (यम की भांति निर्दयी है और भाई की पक्षपाती है) वह फिर हमारी दुरवस्था आप से क्यों कहने लगी? हे यदुपते! उस राजधानी में मेरा और कोई व्यक्ति परिचित भी तो नहीं है, जो आपसे विनय या अनुरोध पूर्वक मेरी सखी श्रीराधा की मरण तुल्य विरह–वेदना को सुनाये (एवं आपको व्रज में जाने की प्रेरणा दे) अतः मैं इस राजहंस को ही दूत बनाकर आपके पास भेज रही हूँ।।६२।।

विशीर्णांगीमन्तर्व्रणविलुठनादुत्कलिकया
परीतां भूयस्या सततमपराग–व्यतिकराम्।
परिध्वस्तामोदां विरमितसमस्तालिकुतुकां
विधो! पादस्पर्शादपि सुखय राधा–कुमुदिनीम्।।६३।।

अनुवाद–हे वृन्दावनचन्द्र ! मेरी सखी राधारूपा कुमुदिनी आन्तरिक विरह–सन्ताप से भूमि पर लोटती रहती है, जिससे उसका शरीर क्षीण (क्षत–विक्षत) हो गया है, फिर भी उसमें आपके दर्शन की महान् उत्कण्ठा दीख पड़ती है। प्रगाढ़–विरह के कारण समस्त वस्तुओं से उसका मन विरक्त हो गया है। उसकी अंग कान्ति मलिन तथा आनन्द विलीन हो चुका है, सखियों के साथ हँसना–खेलना भी वह भूल चुकी है। अब भी हे कृष्णचन्द्र! अपने सुधा–किरण तुल्य चरणस्पर्श से उसे सुखी कीजिए। (पक्षान्तर में)–हे चन्द्र ! उस कुमुदिनी को अपनी किरणों के स्पर्श से सुखी करो, जो आन्तरिक कीटादि के क्षतों से अत्यन्त म्लान हो चुकी है, जो तरंगों के आघात से बार–बार आन्दोलित हो रही है, जिसके रंग और सौरभ उड़ गये हैं। निरस हो जाने के कारण मधुकरगण ने भी जिसे त्याग दिया है।

विपत्तिभ्यः प्राणान् कथमपि भवत्संगमसुख–
स्पृहाधीना शौरे ! मम सहचरी रक्षितवती।
अतिक्रान्ते सम्प्रत्यवधिदिवसे जीवननिधौ
हताशा निःशंकं वितरति दृशौ चूत–मुकुले।।६४।।

अनुवाद–हे शूरवंशोद्भव ! (क्षत्रियकुलोत्पन्न होने के कारण क्रूर–स्वभाव) मेरी सखी श्रीराधा आपके मिलन की आशा में अति कठिनता से अपने प्राणों की जैसे–तैसे रक्षा कर रही है। व्रज में लौट आने की अवधि (जो आप बता गये थे) अब बीत चुकी है। अतः अब जीवन धारण करने में हताश एवं निशंक होकर आम्रमुकुल पर नेत्र टिकाये रहती है, अर्थात् पहले तो आपकी बाट जुहती रहती थी, किन्तु अब लौटने की अवधि निकल जाने पर उसने आपकी आशा त्याग दी है और नेत्र उठाकर आम्रमुकुल पर दृष्टि जमाये रहती है एवं प्राणों के फूट निकलने की प्रतीक्षा करती रहती है–उसे अब मृत्यु से कोई भी शंका या भय नहीं रहा है।।६४।।

प्रतीकारारम्भश्लथमतिभिरुद्यत्परिणते–
विमुक्तायां व्यक्तस्मरकदनभाजः परिजनैः।
अमुञ्चन्ती संगं कुवलयदृशः केवलमसौ
बलादद्य प्राणानवति भवदाशा–सहचरी।।६५।।

अनुवाद–हे कृष्ण ! स्पष्ट रूपसे आपके प्रेम में पीड़िता उस कमलनयनी राधा के दुस्साध्य विरह–रोग को दूर करने के उपचारों में प्रायः सब सहचरियां शिथिल होकर उसे त्याग चुकी हैं (क्योंकि उन्हें किसी भी उपचार से उसके जीवन–बचने की आशा नहीं दीखती) हां आपकी आशारूप सहचरी ने केवल उसका त्याग नहीं किया है और आज वही बलपूर्वक उसके प्राणों को निकलने से रोके हुए है।।६५।।

अये रासक्रीड़ारसिक ! मम सख्यां नवनवा
पुरा बद्धा येन प्रणयलहरी हन्त गहना।
स चेन्मुक्तापेक्षस्त्वमसि धिगिमां तूलशकलं
यदेतस्याः नासानिहितमिदद्यापि चलति।।६६।।

अनुवाद–(क्रोध एवं दुःख पूर्वक श्रीललिताजी ने कहा)–हे रास–रसिक! मेरी सखी जिस श्रीराधा को आपने पहले अपने नित्य–नव प्रेम की लहरियों (डोरियों) में दृढ़ता से आबद्ध कर दिया, अब तुम उसके प्रति लापरवाह हो गये हो। हम तो उसका मरण अनुमान कर उसके नासिका–रन्ध्रों के आगे रुई का फोता रखती हैं, जब वह हिलने लगता है, जब हम जान पाती हैं कि अभी वह जीवित है। हाय ! इस दशा में भी वह आपकी आशा रखती है, धिक्कार है उसे।।६६।।

मुकुन्द ! भ्रान्ताक्षी किमपि यदसंकल्पितशतं
विधत्ते तद्वक्तुं जगति मनुजः कः प्रभवति ?
कदाचित् कल्याणी विलपति यदुत्कण्ठितमति–
स्तदाख्यामि स्वामिन् ! गमय मकरोत्तंस–सविधम्।।६७।।

अनुवाद–हे मुकुन्द ! दिव्योन्मादवश घूर्णित नयनों वाली श्रीराधा, मनके संकल्पों के भी अगोचर अथवा असम्भव जिस असंख्य दशाओं को प्राप्त होती है, जगत् में ऐसा कौन सा मनुष्य है जो उन्हें वर्णन करने में समर्थ हो सके? (उसके मनोभावों को ही कोई जान नहीं सकता।) कल्याण हो उसका (जीती रहे,) कभी वह उद्विग्नमति होकर किस प्रकार विलाप करती है, मैं तो कहती हूँ कि हे नाथ ! उसे स्वयं आप ही आकर कानों से सुनिए।।६७।।

अभूत् कोऽपि प्रेमा मयि मुररिपोर्यः सखि ! पुरा
परां धर्मापेक्षामपि तदवलम्बादलंघयम्।
तथेदानीं हा धिक् समजनि तटस्थः स्फुटमहं
भजे लज्जां येन क्षणमिह पुनर्जीवितुमपि।।६८।।

अनुवाद–हे कृष्ण ! (वह बार–बार यही कहती है–) हे सखि श्रीकृष्ण का पहले (व्रजवास के समय) जो मेरे प्रति एक अनिर्वचनीय प्रेम उभर आया था, मैंने उसे देखकर श्रीकृष्ण के लिए अलंघ्य कुलधर्म अथवा नारीधर्म मर्यादा का भी परित्याग कर दिया। किन्तु हाय ! अब उनकी ऐसी तटस्थता या अपने प्रति उपेक्षा देखकर मैं अपने को धिक्कारती हूँ। हाय ! अब तो मुझे स्पष्ट लज्जा आती है (कि वह सब श्रीकृष्ण का केवल उपहास मात्र था) अतः अब तो मैं एक क्षण भी इस वृन्दावन में जीवित रहना नहीं चाहती हूँ।।६८।।

गरीयान् मे प्रेमा त्वयि परमिति स्नेहलघुता
न जीविष्यामीति प्रणयगरिमाख्यापनविधिः।
कथं नायासीति स्मरण–परिपाटीप्रकटनं
हरौ सन्देशाय प्रियसखि ! न मे वागवसरः।।६९।।

अनुवाद–"हे प्रिय सखि ! श्रीकृष्णचन्द्र के निकट यदि यह कहकर संदेशा भेजती हूँ कि आपके प्रति मेरा अतिशय महान् प्रेम है तो प्रेम में हल्कापन आता है। यदि यह कहला भेजती हूँ कि मैं आपके बिना जीवित नहीं रह पाऊँगी, तो इसमें अपने प्रेम के महत्व का विज्ञापन दोष प्रकट होता है। यदि यह कहती हूँ कि आप यहां क्यों नहीं चले आते ? तो इससे यही

जाना जायगा कि मैं उनको स्मरण करती हूँ अतः उनके लिए कोई सन्देशा भेजना मेरे वाक्य का विषय ही नहीं रहा।।६६।।

गोपालानुगा–टीका–यहां प्रसंग तो है मादनाख्य–महाभाव–स्वरूपिणी कृष्णगत प्राणा कृष्णवल्लभा, कृष्णाभिन्नस्वरूपा श्रीराधाजी का। उनका प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण से संयोग–वियोग तो एकमात्र उभयविध रसास्वादन में ही पर्यवसित है।

किन्तु साधकों के लिए इस श्लोक में अनुपम–आदर्श स्थानीय सदुपदेश प्राप्त हो रहा है। साधक का अपने को कृष्णप्रेमी बताना, बनावटी विरहावस्था के स्वांग रचकर या कृष्ण स्मरणादि सम्बन्ध में अनेकविध शरीर–भंगिमाएं सजाकर चित्र (फोटो) प्रकाशित कर बांटना–बटवाना–केवल विज्ञापनमात्र ही है, जो उनमें प्रेमगन्धलेशका नितान्त अभाव तो उजागर करता ही है, वरन् उनका अपना हल्कापन भी एवं कृष्ण भजन साधन की लाघवता भी ज्ञापित होती है। ऐसी चेष्टाओं एवं प्रदर्शनों से भक्ति का तो ह्रास ही होता है। भले वे आत्म–प्रतिष्ठा धनादि उपलब्ध कराते हैं। अतः साधक–समाज को अपने कृष्णप्रेम का यदि प्रभुकृपा से कुछ लेशाभास प्राप्त हुआ है, प्रदर्शन या विज्ञापन कभी नहीं करना चाहिए।

अमी कुञ्जाः पूर्व मम न दधिरे कामपि मुदं
द्रुमालीयं चेतः सखि ! न कतिशो नन्दितवती ?
इदानीं पश्यैते युगपदुपतापं विदधते
प्रभो मुक्तापेक्षे भजति न हि को वा विमुखताम् ?।।१००।।

अनुवाद–(श्रीललिताजी ने आगे कहा–हे राजहंस ! सुनिये और भी जो–जो बातें मुझे मेरी सखी कहती है। वे सब बातें श्रीकृष्णचन्द्र को जाकर आप सुनाना)–हे ललिते ! श्रीकृष्ण के व्रजवास के समय इस श्रीवृन्दावन के ये कुञ्जसमूह मेरे लिये कैसा कैसा आनन्द प्रदान न करते थे ? अर्थात् अतिशय सर्वानन्द प्रदान करते थे। इन लताओं ने मेरे लिये कैसा–कैसा सुख विधान नहीं किया है ? हे सखि ! देख तो सही, अब यही कुञ्जें लताएं–दोनों मिलकर मुझे कितना संतप्त कर रही हैं ? सत्य है, जब प्राणवल्लभ स्वामी श्रीकृष्ण ने ही मेरी उपेक्षा कर दी है, फिर क्यों न सब मेरे प्रति विपरीत भाव धारण करेंगे ?–(परमेश्वर श्रीकृष्ण के द्वारा त्यागे गये व्यक्ति के प्रति उनके सृष्ट जगत्वासी फिर क्यों उससे अनुकूल बर्ताव करने लगे ?)।।१००।।

ययौ कालः कल्याण्यवकलितकेलीपरिमलां।
विलासार्थी यस्मिन्नचलकुहरे लीनवपुषम्।
स मां धृत्वा धूर्त्तः कृतकपटरोषां सखि ! हठा–
दकार्षीदाकर्षन्नुरसि शशिलेखाशतवृताम्।।१०१।।

अनुवाद–(श्रीराधाजी ने कहा) हे कल्याणि ललिते ! वह समय चला गया, जब वह विलास–अभिलाषी धूर्त्त श्रीकृष्ण केलि कलित मेरे अंगों की

सौरभ का पीछा करते हुए आये। मैं गिरिराज की कन्दरा में छिपी हुई रहती। मैं प्रणयकोप करती रहती, फिर भी वह मुझे जबरदस्ती पकड़ लेते और आकर्षण कर मुझे वक्षःस्थल से लगाकर शत–शत नख–क्षतादि से चिह्नित कर देते थे।।१०१।।

कदा प्रेमोन्मीलन्मदनमदिराक्षीसमुदयं
बलादाकर्षन्तं मधुरमुरलीकाकलिकया।
मुहुर्भ्राम्यच्चिल्लीचुलुकित–कुलस्त्रीव्रतमहं
विलोकिष्ये लीलामदमिलदपांगी मुरभिदम् ?।।१०२।।

अनुवाद–जो अपनी मधुर मुरली–ध्वनि से प्रेमोन्मत्त मदभरी नेत्रों वाली मृगनयनी व्रजगोपियों को बल–पूर्वक (घरों से) अपनी ओर आकर्षण कर लेते थे और अपने अति चंचल भ्रुकुटि–नयन कटाक्षों से कुलांगनाओं का भी व्रत भंग कर देते थे, लीलाविलासमय कटाक्षकर्ता उन श्रीकृष्णमुरारि का दर्शन, हे ललिते ! मुझे कब प्राप्त होगा ?।।१०२।।

रणद्भृंगश्रेणीसुहृदि शरदारम्भमधुरे
वनान्ते चांद्रीभिः किरणलहरीभिर्धवलिते।
कदा प्रेमोद्दण्ड–स्मरकलह–वैतण्डिकमहं
करिष्ये गोविन्दं निबिड़भुजबन्धप्रणयिनम् ?।।१०३।।

अनुवाद–हे ललिते ! पूर्णचन्द्र की ज्योत्स्ना–लहरियों से उज्ज्वलीकृत श्रीवृन्दावन में मनोहर शरद ऋतु के आरम्भकाल में, जब भ्रमर समूह स्वच्छन्द गुञ्जार–ध्वनि कर रहे हों, प्रेमोद्दण्ड कन्दर्पकला के प्रकाण्ड कोविद श्रीगोविन्द को मैं प्रेमपूर्वक कब अपनी भुजापाशों में बाँध सकूँगी–उन्हें भुजभर आलिंगन कर सकूँगी ? ।।१०३।।

मनो मे हा कष्टं ज्वलति किमहं हन्त करवै
न पारं नावारं सुमुखि ! कलयाम्यस्य जलधेः।
इयं वन्दे मूर्ध्ना सपदि तमुपायं कथय मे
परामृश्ये यस्माद्धृतिकणिकयापि क्षणिकया।।१०४।।

अनुवाद–हे सुमुखि ! मेरा मन विरह–अग्नि में जला जा रहा है, हाय ! अब मैं क्या करूँ ? इस दुःखसागर का आर–पार–किनारा मैं नहीं देख पा रही हूँ। ललिते ! मैं मस्तक झुकाकर तुम्हें प्रणाम करती हूँ, अब तुम ही मुझे कोई उपाय बताओ जिससे मुझे एक क्षणभर तो धीरज बँध सके।।१०४।।

प्रयातो मां हित्वा यदि कठिनचूड़ामणिरसौ
प्रयातु स्वच्छन्दं मम समयधर्मः किल गतिः।
इदं सोढुं का वा प्रभवति यतः स्वप्नकपटा–
दिहायातो वृन्दावन–भुवि बलान्मां रमयति ?।।१०५।।

अनुवाद–हे सखि ! जब वह निष्ठुर–शिरोमणि कृष्ण मुझको त्यागकर मथुरा चले गये हैं, जाने दो, स्वच्छन्द हैं वे। मेरे लिए कालकृत धर्म अर्थात् मृत्यु ही एकमात्र गति है। किन्तु इसे भला (कोई और मानिनी युवति या) मैं

कैसे सहन करूँ कि वे स्वप्न के बहाने यहां वृन्दावन में आते हैं और बलपूर्वक मेरे साथ रमण करते हैं। (जब छोड़कर दूर ही चले गये हैं तो फिर स्वप्न में आकर रमण करने का क्या प्रयोजन ?।।१०५।।

अनौचित्यं तस्य व्यथयति मनो हन्त मथुरां
त्वमासाद्य स्वैरं चपलहृदयं वारय हरिम्।
सखि ! स्वप्नारम्भे पुनरपि यथा विभ्रम–मदा–
दिहायातो धूर्त्तः क्षपयति न मे किंकिणि–गुणम्।।१०६।।

अनुवाद–हे सखि ! उनका इस प्रकार का अनुचित व्यवहार हाय ! मेरे मन को अतिशय दुःख दे रहा है। अतः तू ही मथुरा जाकर उस स्वच्छन्दाचारी चञ्चल हृदय को ऐसा करने से रोको, ताकि विलासोन्मत्त होकर फिर वह धूर्त्त स्वप्नारम्भ काल में यहाँ आकर मेरी किंकिणीगण को न छेड़े।।१०६।।

अयि स्वप्नो दूरे विरमतु समक्षं शृणु हठा–
दविश्रद्धा मा भूरिह सखि ! मनोविभ्रमधिया।
वयस्यस्ते गोवर्द्धनविपिनमासाद्य कुतुका–
दकाण्डे यद्भूयः स्मरकलहपाण्डित्यमतनोत्।।१०७।।

अनुवाद–हे प्रिय ललिते ! स्वप्न की बात तो दूर रही, साक्षात् (जागृत अवस्था) में भी उसका व्यवहार सुन। मेरे मन का भ्रम मात्र इसे समझकर तुम मुझ पर अविश्वास मत करना। तुम्हारे सखा वे श्रीकृष्ण अचानक गोवर्धन के वन–प्रान्त में आकर बिना कारण कामकला–पाण्डित्य विस्तार करने लगे। (प्रत्यक्ष रूप में क्रीड़ाकलह–प्रलाप करने लगे)।।१०७।।

अमर्षाद्धावन्तीं गहनकुहरे सूचितपथां
तुलाकोटिक्वाणैश्चकितपदपातद्विगुणितैः।
दिधीर्षन् मां हर्षोत्तरल–नयनान्तः स कुतुकी
न वंशीमज्ञासीद्भुवि करसरोजाद्विगलिताम्।।१०८।।

अनुवाद–हे सखि ! तब मैं प्रणय–कोप करते हुये घने वन में भाग निकली, किन्तु मेरे नूपुरों की ध्वनि उनको मेरे जाने के मार्ग की सूचना दे रही थी। अतः वे दुगने कदम भरते हुए मेरे पीछे भागने लगे। उस समय हर्षोल्लास के कारण उन कौतुकी श्रीकृष्ण के नेत्रप्रान्त चंचल हो उठे और उनके हस्तकमल से उनकी वंशी भूमि पर गिर गयी, उन्हें उसका पता भी न चला। (ललिते ! हाय, आज भी वही मेरे परमानुरागी हैं, जो मुझे सर्वथा भूलकर मथुरा जा बसे हैं, अहो ! कितना कष्ट !।।१०८।।

अशक्तां गन्तव्ये कलितनवचेलाञ्चलतया
लतालीभिः पुष्पस्मितशवलिताभिर्विरुदतीम्।
परीहासारम्भी प्रियसखि ! समालम्बितमुखीं !
प्रपेदे चुम्बाय स्फुरदधरबिम्बस्तव सखा।।१०९।।

अनुवाद–हे प्रिय ललिते ! तब मेरा नवीन वस्त्रांचल पुष्प–विकसित वन–लताओं में उलझ गया। अतः मैं आगे अपने गन्तव्य स्थान तक जाने में

असमर्थ हो गयी। तब मैं रोने लगी और मैंने अपना मस्तक नीचे झुका लिया। किन्तु परिहास करने में चतुर तुम्हारे वह सखा (श्रीकृष्ण), जिनके अधर लाल–लाल बिम्बाफल की भाँति विकसित हो उठे थे, चुम्बन करने के लिए मेरे पास ही आकर खड़े हो गए।।१०६।।

ततोऽहं धम्मिले स्थगित–मुरलीका सखि ! शनै
रलीकामर्षेण भ्रमदविरल–भ्रूरुदचलम्।
कचाकृष्टि–क्रीड़ाक्रम–परिचिते चौर्य्यचरिते
हरिर्लब्धोपाधिः प्रसभमनयन्मां गिरिदरीम्।।११०।।

अनुवाद–हे सखि ! तदनन्तर मैंने उनकी मुरली को अपने केश–कलापों में छिपा लिया और मिथ्या–क्रोध से अपनी कुटिल भ्रकुटी को इधर–उधर चलाती हुई धीरे से वहां बैठ गयी ! तुम्हारे सखा कृष्ण, जो चोरी भरे चरित्रों के कारण 'हरि' उपाधि से सर्वत्र परिचित हैं, मुझे केशाकर्षण–परिपाटी से बलपूर्वक गोवर्धन की कन्दरा में ले गये।।११०।।

कदाचिद्वासन्ती–कुहरभुवि धृष्टः सरभसं
हसन् पृष्ठालम्बी स्थगयति कराभ्यां मम दृशौ।
दिधीर्षौ जातेर्ष्ये मयि सखि ! तदीयांगुलिशिखां
न जाने कुत्रायं व्रजति कितवानां कुलगुरुः।।१११।।

अनुवाद–हे सखि ! (और सुन–) किसी समय माधवीलतावृत कुञ्ज प्रान्त से वह धूर्त हँसते हुए अचानक मेरे पीछे आकर मेरे दोनों नेत्रों को अपने हाथों से ढक देते हैं। क्रोधवश मैं जब उनकी अंगुलियों को पकड़ना चाहती हूँ, तो न जाने वे धूर्तकुल–शिरोमणि उस समय कहां चले जाते हैं ? (विरहवश श्रीराधाजी को अतीत लीलाओं की इस प्रकार मधुर–स्मृति अथवा स्फूर्त्ति होने लगती है–श्रीललिताजी ये सब वृत्तान्त राजहंस को सुना रही हैं।।१११।।

अतीतेयं वार्त्ता विरमतु पुरः पश्य सरले !
वयस्यस्ते सोऽयं स्मितमधुरिमोन्मृष्टवदनः।
भुजस्तम्भोल्लासादभिमत–परीरम्भरभसः
स्मरक्रीड़ासिन्धुः क्षिपति मयि बन्धूककुसुमम्।।११२।।

अनुवाद–हे सरलचित्त ललिते ! बीती हुई इन सब बातों को रहने दो, (इनसे क्या लाभ ?) वर्तमान घटना को तो तू देख, तुम्हारे सखा कामकेलि सागर श्रीकृष्ण, जिनका मुख मन्दहास्य माधुरी से मण्डित है, मुझे भुजयुगल रूप स्तम्भों में बलपूर्वक भरकर आनन्द से आलिंगन करने की आशा से मेरे ऊपर बन्धूक पुष्पों को फेंक रहे हैं–बन्धूक पुष्पों के समान अरुणाधर मेरी ओर बढ़ा रहे हैं।।११२।।

तदुत्तिष्ठ व्रीडावति ! निबिड़मुक्तालतिकया
वधानैनं धूर्त्तं सखि ! मधुपुरीं याति न यथा।

इति प्रेमोन्मीलद्भवदनुभवारूढ़जड़िमा
सखीनामाक्रन्दं न किल कतिशः कन्दलयति ?।।११३।।

अनुवाद–(हे राजहंस ! श्रीराधा कभी मुझसे कहती है–) हे लजीली ललिते ! उठ ना, सुदृढ़ मुक्ता–लता के हारों से उस धूर्त्त को बाँध ले, जिससे यह फिर मथुरापुरी न जा सके। (राजहंस ! कहना जाकर उनसे कि) इस प्रकार आपके प्रगाढ़ प्रेमोन्मादवश आपकी अनुभूति में श्रीराधा स्तब्धावस्था को प्राप्त कर न जाने कितनी बार हम सखियों को उच्चस्वर में रुलाती है?।।११३।।

अहो कष्टं बाल्यादहमिह सखीं दुष्टहृदया!
मुहुर्मानग्रन्थिं सहज–सरलां ग्राहितवती।
तदारम्भाद्गोपीगण–रतिगुरो ! निर्भरमसौ
न लेभे लुब्धापि त्वदमलभुज–स्तम्भ–रभसम्।।११४।।

अनुवाद–(श्रीललिता ने कहा)– अहो ! कितने दुःख की बात है कि दुष्ट–हृदयवाली मेरे कहने पर ही बाल्यकाल से सरल–स्वभावा मेरी सखी श्रीराधा ने मान–ग्रन्थि में अपने को जकड़े रखा। हे गोपिगण–रतिगुरो ! तभी से ही वह गाढ़ालिंगन–अभिलाषी होते हुये भी आपके उज्ज्वल युगलभुजस्तम्भों का आलिंगन–आनन्द प्राप्त न कर सकी। हाय ! दुष्टचित्ता मैंने कैसा अनिष्ट किया?

अलिन्दे कालिन्दी–कमलसुरभौ कुञ्जवसते–
र्वसन्तीं वासन्ती–नवपरिमलोद्गारि–चिकुराम्।
त्वदुत्संगे निद्रासुखमुकुलिताक्षीं पुनरिमां
कदाहं सेविष्ये किशलय–कलाप–व्यजनिनी ?।।११५।।

अनुवाद–कालिन्दी में प्रस्फुटित कमलों से सुरभित कुञ्जभवन के बरामदे में बैठकर पुष्पगुच्छों के सुन्दर व्यजन द्वारा श्रीराधा की सेवा का सौभाग्य मैं फिर कब प्राप्त करूँगी ? जब उनका केशकलाप नवीन–माधवीलता की कुसुम–सौरभमय पवन से आन्दोलित हो रहा होगा और हे कृष्ण ! आपके अंक में वह अर्धनिमीलित नेत्रों से निद्रासुख अनुभव कर रही होंगी।।११५।।

धृतानन्दां वृन्दावन–परिसरे शारद–निशा–
विलासोल्लासेन श्लथितकबरीभ्रष्टकुसुमाम्।
तव स्कन्धोपान्ते विनिहितभुजां गोपरमणीं
कदा कुञ्जे लीना रहसि विहसिष्यामि सुमुखीम् ?।।११६।।

अनुवाद–श्रीवृन्दावन–परिसर में शरद–रात्रि के विलास–उल्लासानन्द में सुमुखी गोपरमणी श्रीराधा जब कुञ्ज में छिपी हुई होंगी, उनकी वेणी से कुसुम झड़ चुके होंगे और अपनी भुजाओं को जब वह, हे कृष्ण ! आपके स्कन्ध देश पर रखे हुए होंगी, मैं उनको देखकर कब हंसाऊंगी ?।।११६।।

विदूरादाहर्त्तुं कुसुममुपयामि त्वमधुना
पुरस्तीरे तीरे कलय तुलसी–पल्लवमिदम्।

इति व्याजादेनां विदितभवदीयस्थितिरहं
कदा कुञ्जे गोपीरमण ! गमयिष्यामि समये ?।।११७।।

अनुवाद–हे गोपीरमण ! आपको कुञ्ज में विराजमान देखकर मैं तो दूर जाकर पुष्प चयन करने चली जाऊँगी और श्रीराधा से यह कहकर कि 'अब तुम आगे जाकर यमुना के किनारे पर तुलसीपल्लव चुन लाओ'–इस छल से मैं उसे संकेतानुसार कुञ्ज में आपके पास कब भेजूँगी ?।।११७।।

इति श्रीकंसारेः पदकमलयोर्गोकुलकथां
निवेद्य प्रत्येकं भज परिजनेषु प्रणयिताम्।
निजांगे कादम्बीसहचर ! वहन् मण्डनतया।
स यात्युच्चैः प्रेमप्रवणमनुजग्राह भगवान्।।११८।।

अनुवाद–(अब श्रीललिता राजहंस को सम्बोधन करके कहने लगीं)–हे मराली–सहचर ! इस प्रकार गोकुल की सब कथा को अपने अंगों पर भूषण शोभा के समान वहन करते हुए कंसारि श्रीकृष्ण के चरणकमलों में जाकर निवेदन कीजिए और वहां उनके प्रिय परिजनों के प्रति कुशल प्रश्नादि से हमारा अति प्रेमपूर्वक प्रणाम कहिये, क्योंकि अब वही प्रेम–प्रणतजनों के प्रति अनुग्रह करने में समर्थ है–अर्थात् वही यदि चाहें तो श्रीकृष्ण को वृन्दावन भेजकर हम पर अनुग्रह कर सकते हैं।।११८।।

मिलद्भृंगीं हंसीरमण ! वनमालां प्रथमतो
मुदा क्षेमं पृच्छन्निदमुपहरेथा मम वचः।
चिरं कंसारातेरुरसि सहवासप्रणयिनीं।
किमेनामेणाक्षीं गुणवति ! विसस्मार भवती ?।।११९।।

अनुवाद–हे हंसीरमण ! आप सबसे पहले भ्रमरों से युक्त उस वनमाला से जाकर आनन्दपूर्वक कुशल प्रश्न पूछना और मेरा सन्देश कहते हुए पूछना–हे गुणवति ! तुम्हारे साथ–साथ जो प्रेमवती मृगनैनी श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्र के वक्षस्थल पर चिरकाल तक वास करती थी, उसे क्या तुम भूल गयी हो?।।११९।।

इदं किंवा हन्त स्मरसि रसिके ! खण्डन–रुषा
परीतांगी गोवर्द्धनगिरि–नितम्बे मम सखी।
भिया सम्भ्रांताक्षं यदिह विचकर्ष त्वयि बलाद्–
गृहीत्वा विभ्रश्यन्नवशिखिशिखं गोकुलपतिम्।।१२०।।

अनुवाद–हे रसज्ञ वनमाला ! हाय, वह बात तुम्हें स्मरण है क्या ? कि एक दिन गोवर्धन के प्रान्त में मेरी सखी श्रीराधा ने (तुम्हारे में लगे अन्य नायिका–मिलन चन्दनादि चिह्नों को देखकर) प्रणय–कोप में भरकर तुम्हें पकड़कर बलपूर्वक श्रीकृष्ण को खींचा था। (सापराध होने के कारण) उनके नेत्र भय से घूमने लगे थे और उनका मनोहर मोरपुच्छ मुकुट नीचे गिर पड़ा था।।१२०।।

ततः सम्भाषेथाः श्रुतिमकरमुद्रामिति मुदा
भवत्यां कर्त्तव्यः किमिति कुशल–प्रश्न–जड़िमा।
रुचिस्मेरा या त्वं रचयसि बलाच्चुम्बनकला–
मपांगेन स्पृष्टा सखि ! मुरारिपोर्गण्डमुकुरे।।१२१।।

अनुवाद–हे हंस ! तदनन्तर आप हर्षपूर्वक श्रीकृष्ण के मकराकृति कर्ण–कुण्डलों से सम्भाषण करना। उनसे कहना, 'हे सखे ! आपसे तो कुशल–प्रश्न करना मेरी मूर्खता ही है, क्योंकि आप तो श्रीमुरारि के विशाल नेत्र–प्रान्तों को स्पर्श करते हुए उनके स्वच्छ मुकुर के समान कपोलों का मधुर चुम्बन करते रहते हैं। (अतः आप जैसे निरतिशय सौभाग्यशालियों से कुशल–प्रश्न करना मेरी मूर्खता ही है)।।१२१।।

निवासस्ते देवि ! श्रवणलतिकायामिति धिया
प्रयत्नात्त्वामेव प्रणय–हृदया यामि शरणम्।
परोक्षं वृष्णीनां निभृतनिभृतं कर्णकुहरे
हरेः काकून्मिश्रां कथय सखि ! राधा–विधुरताम्।।१२२।।

अनुवाद–हे मकरमुद्रा देवि ! तुम्हारा श्रीकृष्णचन्द्र के श्रवण–प्रान्त में ही निवास है। यही सोचकर प्रयत्न पूर्वक प्रेमपूर्ण हृदय से मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ, इसलिए कि तुम यादवों की अनुपस्थिति में गुप्तरूप से एकान्त में श्रीकृष्ण के कर्णकुहरों में श्रीराधा की विरह वेदना अति विनयपूर्वक निवेदन करो।।१२२।।

परीरम्भं प्रेम्णा मम सविनयं कौस्तुभमणौ
ब्रुवाणः कुर्वीथाः पतगवर ! विज्ञापनमिदम्।
अगाधा राधायामपि तव सखे ! विस्मृतिरभूत्
कथं वा कल्याणं वहति तरले हि प्रणयिता ?।।१२३।।

अनुवाद–हे पक्षिवर हंस ! फिर आप श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर विराजमान कौस्तुभमणि से मेरा प्रेमपूर्वक आलिंगन कहकर विनय पूर्वक कहना कि हे सखि ! तुम श्रीराधा को भी नितान्त भूल गयी हो ? तुम तो चञ्चल हो (कृष्णवक्षःस्थल पर सदा झूलती रहती हो चञ्चल प्रेमवती भला कैसे कल्याण या सुख प्राप्त कर सकती हैं ? इस वचन में श्रीकृष्ण पर भी चञ्चलता का आरोप किया गया है)।।१२३।।

मुहुः कूजत्काञ्चीमणिवलयमञ्जीरमुरली–
रवालम्बी भ्राम्यद्युवतिकलगीतैः सुरमणे !
स किं साक्षाद्भावी पुनरपि हरेस्ताण्डवरसै–
रमन्दः कालिन्दीपुलिनभुवि तौर्य्यत्रिकभरः ?।।१२४।।

अनुवाद–(फिर उसीसे पूछना) हे देवमणि कौस्तुभ ! (तुम श्रीकृष्ण हृदय पर सदा निवास करती हो, अतः उनके हृदय भावों को भी जानती होगी) यह बताओ कि–रासोत्सव में नृत्य करती हुई व्रज युवतियों की मधुर गान–ध्वनि, कांची, मणिमय वलय, नूपुर एवं मंजीरा का शब्द तथा मुरली वादनकारी

श्रीकृष्ण का नृत्य–गीत–वाद्य उज्ज्वल कालिन्दी पुलिन भूमि में क्या पुनः कभी साक्षात् सम्पन्न होगा ?।।१२४।।

नवीनस्त्वं कम्बो ! पशुपरमणीभिः परिचयं
न धत्से राधाया गुणगरिमगन्धेऽपि न कृती।
तथापि त्वां याचे हृदयनिहितं दोहदमहं
वहन्ते हि क्लान्ते प्रणयमवदात प्रकृतयः।।१२५।।

अनुवाद–(हे हंसराज ! फिर उनके शंख से कहना)–हे शंख ! तुम तो एक नये व्यक्ति हो क्योंकि व्रज में तो तुम्हें श्रीकृष्ण ने कभी धारण ही नहीं किया था। इसलिए तुम्हारा हम ब्रज रमणियों से कोई परिचय ही नहीं है और न ही तुम श्रीराधा की गुण–गरिमा की गन्ध मात्र को जानते हो। फिर भी मैं आपसे अपने हृदय की अभिलाषा कहती हूँ। क्योंकि जो उदार प्रकृति–शुद्ध चित्त व्यक्ति हैं, वे दुखी जनों के प्रति सौहार्द–प्रेम करुणा प्रदर्शित करते हैं।।१२५।।

गृहीत्वा गोविन्दं जलधिहृदयानन्दन ! सखे !
सुखेन श्रीवृन्दावन–परिसरे नन्दतु भवान्।
कथं वा ते गोष्ठं भवतु दयितं हंत बलवान्
यदेतस्मिन् वेणोर्जयति चिरसौभाग्यमहिमा ?।।१२६।।

अनुवाद–हे समुद्र–पुत्र शंख ! तुम श्रीगोविन्द को लेकर सुख पूर्वक श्रीवृन्दावन भूमि में आकर आनन्द आस्वादन करो। (किन्तु तुम्हारे मन में यह आशंका होगी ही कि) मैं उस वृन्दावन में हाय ! कैसे सबका प्रेमभाजन हो पाऊँगा, जहाँ वेणु की चिरन्तनी सौभाग्य–महिमा का सर्वतोत्कर्ष विराजमान है ?।।१२६।।

इति प्रेमोद्गार–प्रभवमनुनीय क्रमवशात्
परीवारान् भ्रातर्निशमयति चाणूर मथने।
पुनः कोपोद्भिन्नप्रणयचटुलं तस्य निकटे
कथामाचक्षीथा दशभिरवतारैर्विलसिताम्।।१२७।।

अनुवाद–(श्रीललिता ने आगे कहा)–हे बन्धो ! इस प्रकार प्रेमोद्गार उद्भवकारी अनुनय–विनय से चाणूर विनाशक श्रीकृष्ण के सब पारिवारिक जनों को क्रमशः हमारा निवेदन सुनाना। फिर प्रणयकोप–मिश्रित किन्तु मधुर रूप से उनके मत्स्य–कूर्मादि दशों अवतारों की कथा का वर्णन करना।।१२७।। (इस व्यपदेश से अन्य समस्त अवतारों की लाघवता ही प्रदर्शन करना ललिताजी का अभिप्रेत है)।

ग्रहीतुं त्वां प्रेमामिष–परिवृतं चित्तवड़िशं
महामीनं क्षिप्रं न्यधीत रसपूरे मम सखी।
विवेकाख्यं छित्वा गुणमथ तदग्रासि भवता
हताशेयं किंवा शिव शिव विधातुं प्रभवति ?।।१२८।।

अनुवाद–(श्रीकृष्ण से कहना) हे महामत्स्य ! मेरी सखी श्रीराधा ने आपको पकड़ने के लिए प्रेमरूपी लोभनीय वस्तु से अपने चित्त रूपी वड़िश (काँटे) को लपेटकर अनुराग रूप सागर में फैंका था। किन्तु आपने तो विवेक नामक उस रस्सी को ही तोड़कर उस चित्त काँटे को ही निगल लिया है। हाय ! कितना कष्ट ! वह हताश हो गयी है, अब वह क्या करे ? रस्सी तोड़कर काँटे सहित जब खाद्य पदार्थ को मछली निगल जाती है तो मत्स्य पकड़ने वाला हताश ही हो जाता है महामत्स्य को महाहिंसक भी माना जाता है।।१२८।।

वराकीयं दृष्ट्वा सुभग ! वपुषो विभ्रमभरं
तवाभ्यर्णं भेजे परमकुतुकोल्लासितमतिः।
तिरोधाय स्वांगं प्रकटयसि यस्त्वं कठिनतां
तदेतत् किं न स्यात्तव कमठमूर्त्तेः समुचितम् ?।।१२९।।

अनुवाद–कितनी अल्पमति है मेरी यह सखी राधा ! आपकी सुन्दर अंग शोभा को देखकर परमोल्लसित–बुद्धि होकर वह आपके पास आ पहुँची। किन्तु आपने अपने अंगों को छिपाकर कठिनता (पीठ) ही दिखा दी, ऐसा क्यों न करते आप ? कच्छपमूर्ति धारण करने वाले आपके लिए ऐसा क्या समुचित नहीं है ?–उचित ही है। किसीके निकट आने पर कच्छप अपने कोमल अंगों को तो छिपा लेता है और अपनी पीठ सामने कर देता है। आपने भी अपना सुन्दर कोमल वपु तो छिपा लिया है मथुरा जाकर बस गये हैं कठोरता रूपी पीठ दिखा–कर।।१२९।।

सदा कंसाराते ! स्फुरति चिरमद्यापि भवतः
स्फुटं क्रोड़ाकारे वपुषि निबिड़–प्रेमलहरी।
यतः सा सैरिन्ध्री मलयरुहपंकप्रणयिनी
त्वया क्रोडीं चक्रे परमरभसादात्मदयिता।।१३०।।

अनुवाद–हे कंस निकन्दन ! आपके क्रोड़ (वराह) वपु में चिरकाल व्याप्त रहने वाली अतिशय प्रेम लहरी आज भी स्पष्ट प्रकाशित हो रही है, तभी तो आपने बड़े आनन्द से (केवल चन्दन लेप के लोभ से) चन्दन लेपकारिणी अनुरागिनी सैरन्ध्री (कुब्जा) को अब भी क्रोड़ (अंक) में भर लिया है। वराहावतार में आपने पृथ्वी को भी अंक में भर दांतों पर विराजमान कर लिया था।।१३०।।

चिरादन्तर्भूता नरहरिमयी मूर्त्तिरभित–
स्तदीयो व्यापारस्तव हि न ययौ विस्मृतिपथम्।
विनीतप्रह्लादस्त्वमिह परमक्रूरचरित–
प्रयुक्तो यद्भूयः परहृदयभेदं जनयसि।।१३१।।

अनुवाद– (हे राजहंस ! उनसे आगे कहना)–हे कंसारि ! आपने जो नरसिंह मूर्ति धारण की थी, उसे अन्तर्धान हुए बहुत काल हो चुका है, किन्तु उस अवतार में जो आपने निर्दयता का कार्य किया उसे आप अब तक भूल

नहीं सके हो, प्रह्लाद तो विनीत था (क्योंकि उसे राज्य करने का उपदेश मिल चुका था) किन्तु आपने जो शत्रु के साथ क्रूरता पूर्ण चरित्र किया, उससे तो दूसरे सबका हृदय विदीर्ण होता है।

पक्षान्तर में-विनीत अर्थात् ले गया है ब्रज का प्रह्लाद--अर्थात् प्रह्लाद-आनन्द जो, परं-केवल उस क्रूर अर्थात् अक्रूर के चरित में आप आसक्त हैं, जो मथुरा के अतिरिक्त दूसरों अर्थात् ब्रजवासियों के हृदय को विदीर्ण कर रहा है।।१३१।।

गतात्मानं दर्पादगणितगुरुर्वामन ! मुदा
मनोराज्ये साकूतं त्वयि बलितया कल्पितवती।
प्रपेदे तस्येदं फलमुचितमेव प्रियसखी
विदूरे यत् क्षिप्ता स्मरनकूलपाशैर्निगडिता।।१३२।।

अनुवाद-(हे हंसराज ! उनसे फिर कहना)-हे वामन-स्वरूप मेरी प्रिय सखी श्रीराधा ने गर्व में भरकर गुरुजनों को (सास ससुरादि को) कुछ न गिनते हुए अपने मनोराज्य से-स्वच्छन्दता पूर्वक बड़े हर्ष से राजा बलि की भावनानुसार अपने आपको समर्पण कर दिया था, अब उसका उचित ही फल भोग रही है, जो प्रेम-पाश में बांधकर आपने उसे दूर फैंक दिया है।

(जैसे राजा बलि ने अपने गुरु शुक्राचार्य की बात की कुछ परवाह न कर अपने मन के राज्य से बड़े आनन्द से अपने को श्रीवामन के अर्पण कर दिया था और फिर उसे बांधकर पाताल में दूर फैंक दिया था-श्रीललिता जी ने कहा ठीक वही दशा मेरी प्रिय सखी श्रीराधा की है)।।१३२।।

इयं नाथ ! क्रूरा भृगुपतनमाकाङ्क्षति ततो
यदस्यां काठिन्यं तव समुचितं तद्भृगुपते।
इयं ते दुर्बोधा कृतिरथ भवद्विस्मृतिपथं
यतो जातः साक्षाद्गुरुरपि स नन्दीश्वरपतिः।।१३३।।

अनुवाद-हे नाथ ! मेरी सखी श्रीराधा विरह वश अब पर्वत (गोवर्धन) से गिरकर अपना शरीर पात करना चाहती है। हे भृगुपते-परशुराम ! उसके प्रति आपकी क्रूरता-हृदय की कठोरता उचित ही है (क्योंकि परशुराम अवतार में आपने पृथ्वी को निक्षत्रियकर भृगुपत्तन-भृगुनगर बसाने की इच्छा की थी)। आपकी आकृति सहजबोध नहीं है। दीखने को सुन्दर सुकोमल दीखते हो, भीतर से अतिक्रूर हो (परशुराम भी बाहर से मुनि लगते थे, भीतर से अति क्रोधी और नृशंस थे उनकी आकृति को भी कोई समझ न सकता था) फिर यही कारण है कि आपने साक्षात् गुरुजन अपने पिता श्रीश्रीनन्दीश्वर (नन्दग्रामपति) श्रीव्रजराज को भी भुला डाला है, (जैसे परशुरामजी ने भी अपने गुरु नन्दीश्वर श्रीशिव को भुला दिया था अर्थात् उन द्वारा प्रदत्त धनुष की रक्षा न कर पाये थे-श्रीराम ने उसे तोड़ डाला था। फिर वे सर्वत्र निरादृत हुए थे-उसी प्रकार आपने भी श्रीव्रजराज को भुला दिया है और सब आपके प्रति आदर रहित हो रहे हैं)।।१३३।।

निरानन्दा गावश्चिरमुपहता दूषणकुलैः
खरायन्ते सद्यो रघुतिलक ! गोवर्द्धन–तटाः।
विराधत्वं घोषो व्रजति भवदीय–प्रवसना–
दिदानीं मारी च स्फुटमिह नरीनर्ति परितः।।१३४।।

अनुवाद–हे रघुकुल तिलक रामस्वरूप श्रीकृष्ण ! व्रज का धेनु समूह दूषण कुल से अर्थात् अमंगलों से (पक्षान्तर–दूषणादि राक्षसों से) पीड़ित हो रहा है। नवपल्लव आदि सूख जाने से गोवर्धन के शिखर बाणों के समान (पक्षान्तर में दूषण के भाई खर राक्षस के समान) भयंकर लगते हैं। आपके मथुरा चले जाने से यहां घोष (गोपों की बस्ती) में बाधा–विघ्न रहित होकर मारी–विनाशकारी रोग (पक्षान्तर में मारीच राक्षस) चारों ओर निर्भय होकर नाच रहा है। (अतः अब आप यहां आकर हमारी रक्षा कीजिये)।।१३४।।

प्रपन्नः कालोऽयं पुनरुदयितुं रासभजनै–
र्विलासिन्नद्यापि स्फुटमनपराधा वयमपि।
वितन्वानः कान्तिं वपुषि शरदाकाश–वनितां
कथं न त्वं सीरध्वज ! भजसि वृन्दावनमिदम् ?।।१३५।।

अनुवाद–(श्रीबलरामावतार पक्ष में)–हे लीला विलासी हलधर ! रासभ (धेनुकासुर) अपने पारिवारिकजन–गधों के सहित काल रूप में पुनः यहां आ उपस्थित हुआ है और हम आज भी निरपराधी हैं, आप शरतकालीन आकाश की भांति शुभ्रकान्ति शरीरधारी हैं, (उस धेनुकासुर का विनाश करने के लिए आप इस वृन्दावन में क्यों नहीं आ रहे हैं ?

श्रीकृष्ण–पक्ष में–हे लकुटधारी रास–विलासी श्रीकृष्ण ! रास भजन अर्थात् रासक्रीड़ा का पुनः समय आकर उपस्थित हो गया है और हम अब भी निश्चित रूप से अनपराधा–अन्य संसर्ग–अपराध से रहित हैं, अथवा अभी हमने रासेश्वरी श्रीराधा को खोया नहीं है, वह अभी हमारे बीच जीवित है। शरत् कालीन ज्योत्स्नामय आकाश से व्याप्त इस वृन्दावन में आप क्यों नहीं आ रहे हैं ? (हे हंसराज ! यह आप उनसे पूछना तो)।।१३५।।

न रागं सर्वज्ञ ! क्वचिदपि विधत्ते रतिपतिं
मुहुर्द्वेष्टि द्रोहं कलयति वलादिष्ट–विधये।
चिरं ध्यानासक्ता निवसति सदासौ गतरति–
स्तथाप्यस्यां हंहो सदयहृदयस्त्वं न दयसे।।१३६।।

अनुवाद–हे सर्वज्ञ (बुद्ध स्वरूप) श्रीकृष्ण ! श्रीराधा की किसी भी सांसारिक वस्तु में आसक्ति नहीं रही है, रतिपति के प्रति तो उसका द्वेष है और चन्दनादि नारि–प्रिय वस्तुओं से उसका अत्यन्त द्रोह–शत्रुता है, चिरकाल तक प्राणों की गति या आसक्ति त्यागकर आपके ध्यान में निमग्न बैठी रहती है। ऐसी उसकी अवस्था है अर्थात् वह आपके बुद्धावतार के ही मार्ग का अनुसरण कर रही है, फिर भी हाय कितना दुःख है कि आप दया अहिंसापूर्ण हृदय वाले होकर भी उस पर दया नहीं करते हो।।१३६।।

परिक्लेश–म्लेच्छान् समदमधुपाली–मधुरया
निकृन्तन्नेत्रान्तप्रणयरचना–खड्ग–लतया।
त्वमासन्नः कल्किन्निह चतुरगोपाहित रुचिः
स्वदेशं कुर्वीथाः परिमुदित–धीराधिकमिदम्।।१३७।।

अनुवाद–हे कल्किरूप श्रीकृष्ण ! अपनी मनोहर उन्मत्त मधुकर श्रेणी के समान नेत्रों के प्रेम भरे कटाक्ष समूह खड़्ग (तलवार) से समस्त विरहादि क्लेशों को, जो म्लेच्छों के समान हैं, काट दीजिए। आप तो चतुर नर्म सखा सुबल मधुमंगलादि के प्रति प्रीति पोषण करने वाले हैं। पक्षान्तर में–(तुरगोपाहित रति है अर्थात् घोड़े पर प्रीति रखने वाले हैं, क्योंकि घोड़े पर सवार होकर आप कल्कि रूप से म्लेच्छों को तलवार से काट डालते हैं।) अब आप अपने स्वदेश श्रीवृन्दावन में पधारो और धीराधिक श्रीराधा की प्रसन्नता सम्पादित कीजिए।।१३७।।

इति प्रेमोद्गाढ़स्थपुटितवचोभंगिरखिलं
त्वमावेद्य विलुधन्मुखपरिसरो लोचनजलैः।
ततो गोविन्दस्य प्रतिचरणमाध्वीकपदवी–
मुपासीनो दृग्भ्यां क्षणमवदधीथाः खगपते !।।१३८।।

अनुवाद–फिर श्रीललिता ने कहा–हे राजहंस ! मैंने प्रेमभरे एवं गम्भीर उद्देश्य पूर्ण जिन समस्त वचनों को आपसे कहा है, उन सबको नेत्राश्रुजल से अपने मुख को सिंचित करते हुए श्रीगोविन्द से जाकर निवेदन कीजिए। फिर उनके मधुर चरण युगल के निकट क्षण भर बैठकर उनके नेत्रों को सावधानता पूर्वक देखते रहिए कि वे प्रसन्न–मुख होते हैं या क्रोधित अथवा वे क्या प्रत्युत्तर देते हैं।।१३८।।

प्रणेतव्यो दृष्टेरनुभवपथं नन्दतनयो
विधेया गोपीनां स्मरपरिवृतानामुपकृतिः।
इयं यामैर्गम्या चतुर ! मथुराऽपि त्रिचतुरै–
रिति द्वैधं नान्तः कलय कलहंसी–कुलपते !।।१३९।।

अनुवाद–हे चतुर कलहंसी कुलपते ! (आप चतुर हो और हंसियों–नारियों के दुःख का आपको अनुभव भी है) अतः आप अब मथुरा जाकर अपने नेत्रों को श्रीनन्दकुमार का साक्षात् अनुभव–सौभाग्य प्राप्त कराओ; (जो अति दुर्लभ है)। प्रेम–विह्वला हम गोपियों पर आपको उपकार भी करना चाहिए, (वे जगद्वन्द्या हैं। आपको अधिक समय या श्रम भी नहीं होगा) अभी से तीन–चार प्रहर में यहां से आप मथुरा पहुँच जायेंगे–इसमें कुछ दुविधा या संशय मत मानिए।।१३९।।

अपूर्वा यस्यान्तर्विलसति मुदा सारसरुचि–
र्विवेक्तुं शक्येते सपदि मिलिते येन पयसी।
कथंकारं युक्तो भवतु भवतस्तस्य कृतिनो
विलम्बः कादम्बीरमण ! मथुरासंगम विधौ ?।।१४०।।

अनुवाद–हे हंसीवल्लभ ! आपके हृदय में सरोवरों में आनन्दमयी रुचि विलास करती है अथवा 'सारसरुचि' अर्थात् रस सहित विलास करने की रुचि रहती है। आप पानी मिश्रित दूध में से सार वस्तु दूध को शीघ्र ही पृथक् कर देने की अपूर्व शक्ति धारण करते हैं। अतः आप जैसे गुणवान निपुण व्यक्ति के लिए मथुरा जाने में विलम्ब करना कैसे उचित हो सकता है ? –अर्थात् उचित नहीं है।।१४०।।

प्रपन्नः प्रेमाणं भगवति सदा भागवतभाक्
पराचीनो जन्मावधि–भवरसाद् भक्तिमधुरः।
चिरं कोऽपि श्रीमान् जयति विदितः साकरतया
धुरीणो धुराणामधि–धरणि वैयासकिरिव।।१४१।।

अनुवाद–(अब अन्त में ग्रन्थकर्ता श्रीरूप गोस्वामी अपने अग्रज श्रीसनातन गोस्वामीपाद का जयगान करते हुए कहते हैं)–जो सदा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम से सम्पन्न हैं, तथा श्रीभागवत शास्त्र के अनुशीलन–परायण हैं, अथवा श्रीनारद–प्रह्लादि भागवत जनों के मार्गानुयायी हैं, जो जन्मों से ही सांसारिक रस या आसक्ति से पराङ्मुख हैं–दूर रहते हैं, जिनकी मधुरात्मिका भक्ति में प्रीति है, जो पूर्वकाल में साकर–मल्लिक नाम से विख्यात् रहे हैं, धरणी पर विद्वद्वरों में सर्व–अग्रगण्य, श्रीशुकदेव मुनि के समान श्रीयुक्त कोई अनिर्वचनीय महापुरुष–श्रीसनातन गोस्वामिपाद चिरकाल से सर्वोत्कर्ष से विराजमान हैं।।१४१।।

गोपालानुगा टीका–ग्रन्थकार श्रीपादरूपगोस्वामी ने उपर्युक्त श्लोक में अपने परम गुरु भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव का भी श्लेषार्थ में जयगान किया है–ऐसा भी संगत है। 'साकरतया'–शब्द से 'श्रीकरतया'–अर्थात् ईश्वरतया विदितः–श्रीकृष्णचैतन्यदेव श्रीकृष्ण का ही अवतार हैं–ऐसा अर्थ अभिप्रेत है। और सब अर्थ उभय पक्षीय है। श्रीसनातन गोस्वामीपाद के लिए 'कोऽपि श्रीमान जयति' कहा गया है। उनके नाम का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह है कि शास्त्र में अपने तथा गुरुदेव तथा अभिशप्त व्यक्ति के नामों का स्पष्ट उल्लेख करना वर्जित है–

आत्मनाम गुरोर्नाम नाम्नः क्रियमाणस्य च।
अभिसप्तस्य नामानि न गृह्णीयात् कदाचन।।

रसानामाधारैरपरिचितदोषः सहृदयै–
र्मुरारातेः क्रीडावलिनिबिड़ रूपार्पितगुणः।
प्रबन्धोऽयं बन्धोरखिलजगतां तस्य सरसां
प्रभोरन्तः सान्द्रां प्रमदलहरीं पल्लवयतु।।१४२।।

अनुवाद–(ग्रन्थकार श्रीरूपगोस्वामी इस 'श्रीहंसदूत' प्रबन्ध को श्रीहरिगुरु की संतुष्टि के लिए अर्पण करते हुए कहते हैं)–

यह 'श्रीहंसदूत' प्रबन्ध रसों के विज्ञ विशेषतः शृंगाररस के अनुभवी दोष रहित रसिकों द्वारा पूजित या समादृत हैं, क्योंकि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण

मुरारि के मनोहर रूप–गुणों सहित उनकी लीलाओं का वर्णन किया गया है। अखिल जगत् वासियों के सुहृद्–(अहैतुक स्नेह करने वाले) श्रीपाद सनातन प्रभु के अन्तःकरण को यह प्रबन्ध अपनी घनी–भूत सरस आनन्द लहरियों से परिप्लावित करे।।१४२।।

गोपालानुगा टीका–निखिल जगद्वासियों के सुहृद् श्रीपाद सनातन गोस्वामी के हृदय को श्रीकृष्ण रूप–गुण लीला–वृन्द की आनन्द–लहरियों से प्लावित का तात्पर्यार्थ यही है कि यह प्रबन्ध पाठक–श्रोतागणों के हृदय में भी श्रीकृष्ण प्रेम लहर को निश्चित तरंगायित कर देगा।

इति श्रीलरूपगोस्वामि–प्रभुपाद–विरचितं
हंसदूताख्यं काव्यं समाप्तम्।

इस प्रकार 'श्रीहंसदूत' प्रबन्ध की श्रीश्यामदास लिखित
गोपालानुगा टीका सम्पूर्ण हुई